कल्याण
वर्ष ३८] * [अङ्क ६
भगवान

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़ २०२१, जून १९६४

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

नेहरूजीके प्रति श्रद्धाञ्जलि

भारतके प्रधान मन्त्री लोकनायक पण्डित जवाहरलालजी नेहरूके आकस्मिक देहावसानसे केवल भारतमें ही नहीं, विश्वके प्रायः सभी राष्ट्रोंमें शोककी एक संतप्तकारिणी लहर बह गयी है। भारतका यह गौरव है कि इस भीषण कलह-युगमें भी यहाँ ऐसे एक महान् पुरुषका उदय हुआ जो अखिल विश्वमें प्रेमकी प्रतिष्ठा चाहता था, जो सबके कल्याणका अभिलाषी और इसके लिये जागरूकताके साथ सदा सचेष्ट था, जो नर-संहारकारी युद्धोंका विरोधी तथा शान्ति एवं सद्भावका सच्चा संदेशवाहक था, जो बिना किसी भेदभावके मानवमात्रमें समानरूपसे विश्वास करना लाभप्रद समझता था, जो अपने सिद्धान्तका दृढ़ विश्वासी तथा अपने आदर्शका पक्का ईमानदार था और जिसका जीवन त्याग और बलिदानकी पवित्र झाँकियोंसे जाज्वल्यमान था, ऐसे सर्वमान्य विश्व-मानवके भौतिक शरीरका वियोग सहज ही सबके हृदयोंपर आघात पहुँचानेवाला होगा ही; पर भगवान्‌के अपरिहार्य विधानको स्वीकार करना ही पड़ता है। यहाँ मनुष्य सर्वथा निरुपाय है और वस्तुतः भारतीय ऋषियोंकी अनुभूतिके अनुसार आत्मा नित्य अमर है और भौतिक देह निश्चयरूपसे ही अनित्य विनाशी है। 'जातस्य ध्रुवो मृत्युः'। भगवान् कहते हैं—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ (गीता २। १३)

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(गीता २। २०)

'जीवके इस देहमें जैसे कुमार, युवा और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही देहान्तरकी प्राप्ति होती है। इस विषयमें धीर पुरुष मोह नहीं करते।' और 'आत्मा कभी न जन्मता है, न मरता है, न होकर फिर होनेवाला ही है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और सनातन है। शरीरके नाश होनेपर इसका नाश नहीं होता।' अतएव भगवान्‌के मतानुसार शोक करना मोहका ही परिणाम है। श्रीजवाहरलालजी अपने आदर्शों, भावों और कीर्तिके रूपमें सदा ही जीवित हैं। उनमें जो सद्गुणोंका भण्डार था,—अपने-अपने क्षेत्रमें चाहे वह किसी भी विचारका हो,—उन गुणोंका सम्पादन और आदरके साथ पालन करना चाहिये। यही अपने इन दिवंगत महान् युगपुरुषके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धाञ्जलि है। विश्वात्माके रूपमें हम उनका सदा सादर श्रद्धापूर्ण हृदयसे अभिनन्दन करते हैं।

हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१,३८,०००

कल्याण, सौर आषाढ़ २०२१, जून १९६४

विषय-सूची

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

नेहरूजीके प्रति श्रद्धाञ्जलि

भारतके प्रधान मन्त्री लोकनायक पण्डित जवाहरलालजी नेहरूके आकस्मिक देहावसानसे केवल भारतमें ही नहीं, विश्वके प्रायः सभी राष्ट्रोंमें शोककी एक संतप्तकारिणी लहर बह गयी है। भारतका यह गौरव है कि इस भीषण कलह-युगमें भी यहाँ ऐसे एक महान् पुरुषका उदय हुआ जो अखिल विश्वमें प्रेमकी प्रतिष्ठा चाहता था, जो सबके कल्याणका अभिलाषी और इसके लिये जागरूकताके साथ सदा सचेष्ट था, जो नर-संहारकारी युद्धोंका विरोधी तथा शान्ति एवं सद्भावका सच्चा संदेशवाहक था, जो बिना किसी भेदभावके मानवमात्रमें समानरूपसे विश्वास करना लाभप्रद समझता था, जो अपने सिद्धान्तका दृढ़ विश्वासी तथा अपने आदर्शका पक्का ईमानदार था और जिसका जीवन त्याग और बलिदानकी पवित्र झाँकियोंसे जाज्वल्यमान था, ऐसे सर्वमान्य विश्व-मानवके भौतिक शरीरका वियोग सहज ही सबके हृदयोंपर आघात पहुँचानेवाला होगा ही; पर भगवान्के अपरिहार्य विधानको स्वीकार करना ही पड़ता है। यहाँ मनुष्य सर्वथा निरुपाय है और वस्तुतः भारतीय ऋषियोंकी अनुभूतिके अनुसार आत्मा नित्य अमर है और भौतिक देह निश्चयरूपसे ही अनित्य विनाशी है। 'जातस्य ध्रुवो मृत्युः'। भगवान् कहते हैं—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ (गीता २। १३)

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(गीता २। २०)

'जीवके इस देहमें जैसे कुमार, युवा और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही देहान्तरकी प्राप्ति होती है। इस विषयमें धीर पुरुष मोह नहीं करते।' और 'आत्मा कभी न जन्मता है, न मरता है, न होकर फिर होनेवाला ही है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और सनातन है। शरीरके नाश होनेपर इसका नाश नहीं होता।' अतएव भगवान्के मतानुसार शोक करना मोहका ही परिणाम है। श्रीजवाहरलालजी अपने आदर्शों, भावों और कीर्तिके रूपमें सदा ही जीवित हैं। उनमें जो सद्गुणोंका भण्डार था,—अपने-अपने क्षेत्रमें चाहे वह किसी भी विचारका हो,—उन गुणोंका सम्पादन और आदरके साथ पालन करना चाहिये। यही अपने इन दिवंगत महान् युगपुरुषके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धाञ्जलि है। विश्वात्माके रूपमें हम उनका सदा सादर श्रद्धापूर्ण हृदयसे अभिनन्दन करते हैं।

गोमाताके अंग-अंगमें देवताओंका निवास

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सर्वारिष्टहरं सुखैकरमणं शान्त्यास्पदं भक्तिदं स्मृत्या ब्रह्मपदप्रदं स्वरसदं प्रेमास्पदं शाश्वतम् ।
मेघश्यामशरीरमच्युतपदं पीताम्बरं सुन्दरं श्रीकृष्णं सततं व्रजामि शरणं कायेन वाचा धिया ॥

वर्ष ३८ } गोरखपुर, सौर आषाढ़ २०२१, जून १९६४ { संख्या ६ पूर्ण संख्या ४५१

गोमाताके अङ्ग-अङ्गमें देवताओंका निवास

हरि-हर-विधि, शशि-सूर्य, इन्द्र, वसु, साध्य, प्रजापति, वेद महान् ।
गिरा, गिरिसुता, गङ्गा, लक्ष्मी, ज्येष्ठा, कार्तिकेय भगवान् ॥
ऋषि, मुनि, ग्रह, नक्षत्र, तीर्थ, यम, विश्वेदेव, पितर, गन्धर्व ।
गोमाताके अङ्ग-अङ्गमें रहे विराज देवता सर्व ॥

याद रक्खो—सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर भगवान् तुम्हारे परम सुहृद् हैं, वे सदैव सर्वत्र स्वयं तुम्हारी सहायताके रूपमें प्रस्तुत हैं। जब कभी तुम्हें मनमें निराशा हो, तुम अपनेको असहाय, निराश्रय, सबके द्वारा उपेक्षित और अकेले समझने लगो—तभी विश्वासपूर्वक उन अपने भगवान्‌को पुकारो। वे तुरंत तुम्हारी सहायताके लिये तुम्हारे पास आ खड़े होंगे।

याद रक्खो—भगवान्‌के लिये न तो कोई जीव छोटा-बड़ा है और न कोई काम ही छोटा-बड़ा है। वे सबके सबसे अधिक निकटस्थ आत्मीय हैं—अपने हैं। न तो छोटेसे छोटा बनकर छोटा काम करनेमें उन्हें लज्जा-संकोच है और न वे दूसरोंके लिये असम्भव, महान्‌से महान् विशाल अत्यन्त कठिन कार्य सम्पन्न करनेमें असमर्थ हैं। तुम अपनेको उनपर छोड़ दो—केवल उन्हींपर छोड़ दो, वे तुम्हारे सारे अभावोंकी पूर्ति कर देंगे या अभावकी अनुभूति ही पूर्णरूपसे समाप्त कर देंगे। तुम परम सुखी हो जाओगे।

याद रक्खो—भगवान्‌के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। वे सर्वभवनसमर्थ हैं और 'कर्तुमकर्तुमन्यथा-कर्तुम्–समर्थः' हैं। तुम अडिग तथा पूर्ण विश्वासके साथ अपनेको सर्वतोभावेन उनपर छोड़ दो। तुम्हारे मार्गके सारे अवरोध दूर हो जायँगे, सारे बड़े-से-बड़े विघ्न हट जायँगे, सारी कठिनाइयोंके किले अनायास ही टूट जायँगे। तुम्हें पाथेययुक्त तथा सच्चे प्रिय संगीके सहित प्रशस्त पद मिल जायगा और तुम विना ही परिश्रमके सुखपूर्वक हँसते-हँसते अपने लक्ष्यपर पहुँच जाओगे।

याद रक्खो—भगवान् तुम्हारी प्रत्येक परिस्थितिमें और तुम्हारी प्रत्येक यथार्थ आवश्यकताके समय तुम्हारे सहज सहायक हैं। जब तुम दूसरे सारे आश्रयोंका त्याग करके उनके सौहार्दकी ओर दृष्टिपात करोगे और अपना सारा योगक्षेम उन्हींको मान लोगे—यदि सचमुच तुम ऐसा कर सकोगे—तो तुम देखोगे कि तुम्हारा हृदय अकस्मात् हरा हो गया है, ऊँचा उठ गया है, तुम्हारी निराशा नष्ट हो गयी है, तुम्हें प्रत्यक्ष सहायता मिलने लगी है, तुम्हारे साथ एक कभी न हटनेवाला—कभी साथ न छोड़नेवाला मित्र आ खड़ा हुआ है। तुम उपेक्षित नहीं हो—बड़ी प्रीतिके साथ समादरपूर्वक तुम्हारी देख-रेख की जा रही है और एक कोई वरद हस्त सदा-सर्वदा तुम्हें अभयदान दे रहा है।

याद रक्खो—तुम भगवान्‌पर विश्वासपूर्वक पूर्ण निर्भर नहीं करते, उनके नित्य अपनेपनपर दृढ़ विश्वास नहीं करते, उनकी सुधामयी शक्तिमयी सहज कृपाकी ओर दृष्टिपात नहीं करते—इसीसे अपनेको असहाय, निराश्रय और निराश पाते हो; इसीसे भय, चिन्ता और विषादके बादलोंसे घिरे रहते हो। इस संदेहभरी डावाँडोल स्थितिसे अपनेको अलग कर लो, फिर देखोगे—तुम्हारी प्रत्येक यथार्थ आवश्यकताके समय सर्वदाता भगवान् तुम्हारे सहायकके रूपमें खड़े हैं।

याद रक्खो—भगवान् तुम्हारे हैं, तुम भगवान्‌के हो। इस नित्य सत्य अचल स्थितिको भूलकर ही तुम संशय-सागरके नये-नये दुःखोंकी तरंगोंके आघातसे घायल हो रहे हो। यह मिथ्या स्थिति है। भगवान्‌पर विश्वास करो—पूर्ण विश्वास करो। यह असत् संशय-सागर तुरंत सूख जायगा और तुम अपनेको भगवान्‌की सत्य नित्य-सुखद गोदमें पाओगे।

'शिव'

यदि सुख चाहते हो तो........

[अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराजका

(प्रेषक—श्रीगोविन्दप्रसादजी चतुर्वेदी शास्त्री, बी० ए०, विद्याभूषण)

विश्वमें दो शक्तियाँ हैं—दैवी तथा आसुरी। बृहदारण्यक उपनिषद्में लिखा है—**'कनीयसः देवः जेष्ठः असुरः'** इस सम्बन्धमें भगवान् आद्य शंकराचार्य कहते हैं—अन्तःकरणकी काम-क्रोधादि वृत्ति ही असुर हैं तथा दया, क्षमा, शान्ति देवता हैं।

प्रत्येक मनुष्यमें जिस प्रकार काम, क्रोध, लोभ आदि हैं, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यमें दया, क्षमा, अकार्पण्य आदि आठ गुण भी हैं, परंतु बहुधा मनुष्यके हृदयमें काम, क्रोध, लोभादिकी वृत्ति प्रबल रहती है। इससे स्पष्ट है कि हमारे ऊपर असुरोंका प्रभाव विशेष रहता है।

सद् ज्ञानकी शिक्षाके लिये गुरु, पाठशालाओं आदिकी व्यवस्था है, फिर भी लोग सद् ज्ञानको ठीकसे नहीं समझ पाते, परंतु काम, भोग, वासना आदि बिना शिक्षणके ही मनुष्योंको ज्ञात हो जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि आसुरी प्रवृत्ति प्रबल है।

इसीलिये भक्त भगवान्से कहते हैं कि 'भगवन्! मेरे द्वारा आपके चरणोंमें अपना मन भेंट किया जाता है; परंतु कामरूपी शत्रु मेरे मनको आपके चरणोंसे बाहर निकाल ले जाता है।'

अतः मनुष्यको काम, क्रोध, लोभपर विजय प्राप्त करनी चाहिये। जिसने काम, क्रोध, लोभको वशमें नहीं किया—उसीको कष्ट है। नरकोंके भरनेका भी यही कारण है। नरकमें जानेके काम, क्रोध, लोभ—ये तीन ही द्वार हैं। मानवको इनसे बचनेका उपाय सीखना चाहिये। इनको जीतनेवाला सूर्य-मण्डलको भी जीत लेता है। इन कामादिको जीतनेका एकमात्र उपाय है—भगवान्के चरणारविन्दका आश्रय।

लौकिक उपाय सिद्ध नहीं हैं, ऐकान्तिक उपायकी सिद्धि भगवान्की शरण जानेसे ही मिल सकती है। भगवान्से सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। वे प्रभु हैं। 'प्रभु' शब्दका अर्थ ही समर्थ है। अतः समर्थ ही दे सकता है। प्रभुको कुछ नहीं चाहिये, परंतु जीवको सब कुछ चाहिये।

भगवान् करुणावरुणालय हैं। उन्हें जीवको दुखी देखकर दया आती है। उन्होंने गीतामें कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

वेदोंमें कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

भगवान् हमारे सखा हैं, जैसे मित्रको देखकर मित्रको दया आती है, वैसे ही हमें देखकर भगवान्को दया आती है। वे आत्माराम हैं, आत्मकाम हैं।

अतः नित्य दान-पुण्य करके प्रभुके अर्पण करो। जो दान करोगे वही मिलेगा। द्रौपदीका उदाहरण इसका प्रमाण है। इससे शिक्षा ग्रहण करो। गीतामें भी कहा है—

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

भगवान् बिम्ब हैं, हम उनके प्रतिबिम्ब हैं। जिस प्रकार जिसका जैसा रूप है, वैसा ही रूप दर्पणमें दिखलायी देता है। बिम्बको हँसानेसे प्रतिबिम्ब हँसता है, उसी प्रकार प्रतिबिम्बको वही वस्तु मिलती है जो बिम्बको दी जाती है। इससे स्पष्ट है जो दान करोगे, वही मिलेगा।

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि यह संसार मरुभूमि है। इस मरुभूमिमें भी सुख चाहते हो तो भगवान्की शरणमें रहो। उनकी शरणमें ही आयु, श्री एवं सांसारिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है, उनकी कृपासे मरणधर्मा भी अमर हो जाता है। यही दैवी सम्पत्ति है। इसकी प्राप्तिके हेतु भगवान्की शरणमें जाना चाहिये।

...स भगवद्‌बुद्धिपूर्वक समान और निष्काम प्रेम करनेसे भगवत्प्राप्ति

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीभगवान् प्रेमस्वरूप और चिन्मय हैं । यद्यपि प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमी—इनके नाम और स्वरूप अलग-अलग कहे जाते हैं; किंतु वास्तवमें एक भगवान् ही तीनों रूपोंमें प्रकट हैं । भगवत्प्रेमी पुरुष जब भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है तब वह भगवान्‌में ही तद्रूप हो जाता है; फिर वह भगवान्‌से अलग नहीं समझा जाता । सबके प्रेमास्पद एक भगवान् ही हैं और प्रेम तो भगवान्‌का स्वरूप है ही । चाहे यों समझें कि प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमीके रूपमें प्रेम ही प्रकट हुआ है अथवा यों समझें कि भगवान् ही इन तीनों रूपोंमें हैं—दोनों एक ही बात है। जैसे सोनेके कुण्डल, कंठी, कड़े आदिके नाम-रूप अलग-अलग हैं किंतु वस्तुसे वह सब एक सोना ही है—

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातँ स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोह-मित्येव सत्यम् । (छान्दोग्य उप० ६ । १ । ५)

(अपने पुत्र श्वेतकेतुके प्रति उद्दालकने कहा—)

'सोम्य ! जिस प्रकार एक लोहमणि (सुवर्ण) का ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण सुवर्णमय पदार्थ जान लिये जाते हैं; क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित नाम-मात्र है, सत्य केवल सुवर्ण ही है ।'

वैसे ही कहनेके लिये तो प्रेम, प्रेमास्पद, प्रेमी—इनके नाम-रूप पृथक्-पृथक् हैं, किंतु वस्तुतः एक प्रेम ही है और यह प्रेम भगवत्स्वरूप, चिन्मय और दिव्य है । जो लौकिक प्रेम होता है, वह इस प्रेमस्वरूप भगवान्‌के एक अंशका प्रतिबिम्बमात्र है । इसलिये उसको प्रेम न कहकर आसक्ति या स्नेह कहना चाहिये ।

श्रीभगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम होनेपर भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र होती है । 'अनन्य' का अभिप्राय है भगवान्‌के सिवा अन्य किसीमें भी प्रेम न हो और 'विशुद्ध'का अभिप्राय है अन्य किसी भी प्रकारकी कामना न हो—पूर्ण निष्कामभाव हो । इस असली प्रेमकी प्राप्तिके लिये साधकोंको सबमें भगवद्‌बुद्धि करनी चाहिये । गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(गीता ७ । १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें यथार्थ ज्ञानको प्राप्त पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।'

यदि 'सभी भगवान्‌का स्वरूप है'—यह बुद्धि न हो तो 'सबमें भगवान् हैं'—यह निश्चय करना चाहिये ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(गीता ६ । ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता ।'

यदि यह निश्चय भी न हो तो 'सब कुछ भगवान्‌का' समझकर सबकी सेवा करनेसे भी प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(गीता १८ । ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है

और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

इसलिये भगवान्की प्राप्तिके उद्देश्यसे सबके साथ समभाव रखते हुए निष्काम प्रेम किया जाय तो वह भगवान्से ही प्रेम करना है। जो उच्चकोटिके महापुरुष होते हैं, उनका तो सबमें स्वाभाविक समभाव रहता है और साधकके लिये वही साधन है। अतः साधकको उन महापुरुषोंका अनुकरण करना चाहिये। गीतामें महापुरुषोंके समभावका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(गीता ५ । १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।'

यहाँ 'समदर्शन' का अभिप्राय 'समभावसे अनुभव करना' है। श्लोकमें 'समदर्शन' है 'समवर्तन' नहीं; क्योंकि सबके साथ समान बर्ताव हो भी नहीं सकता। बर्ताव तो यथायोग्य ही हो सकता है। दूध तो गौका ही पीया जा सकता है, हथिनी और कुतियाका नहीं; सवारी हाथीकी की जाती है, गौ और कुत्तेकी नहीं; पाखानोंकी सफाई चाण्डाल (मेहतर) से ही करायी जा सकती है, ब्राह्मणसे नहीं। घास हाथी और गौको खिलाया जा सकता है, कुत्ते, चाण्डाल और ब्राह्मणको नहीं। एवं जैसे हम अपने मस्तकसे ब्राह्मण-जैसा, हाथोंसे क्षत्रिय-जैसा, जङ्घासे वैश्य-जैसा और पैरोंसे शूद्र-जैसा बर्ताव करते हैं, किसीका विशेष आदर करते हैं तो उसके चरणोंमें मस्तक नवाते हैं अथवा हाथ जोड़ते हैं और किसीके भूलसे भी हमारा पैर लग जाता है तो हाथ जोड़ते हैं, क्षमा-याचना करते हैं। [illegible]

[illegible] महापुरुषोंका [illegible] ही समभाव रहता है, [illegible]—

[illegible]
[illegible]
([illegible])

'सुहृद्, मित्र, वैरी, [illegible] बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी [illegible] रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

साधारण मनुष्योंका [illegible] होता है। सुहृद्में प्रेम और [illegible] धर्मात्मामें प्रेम और पापीमें द्वेष होता है। [illegible] प्रेम और अन्य लोगोंमें द्वेष या [illegible] किंतु भगवत्प्राप्त महापुरुषोंका तो सदा ही सबमें [illegible] भाव रहता है, किसीमें भी कभी [illegible] अतः हमलोगोंको सबके प्रति समान और [illegible] भावसे प्रेम करना चाहिये।

भगवान्की आज्ञाके अनुसार, [illegible] भगवत्प्रीति अथवा भगवान्के ही लिये जो किसीके साथ भी निष्काम भावसे प्रेम किया जाता है उसका फल [illegible] ही है। अतः सबको भगवान्का स्वरूप समझना या सबमें भगवान्को व्यापक समझना अथवा सब कुछ भगवान्का समझना—इन तीनोंमेंसे जो भाव जिसके अनुकूल हो, जिसमें जिसकी श्रद्धा-रुचि हो वही उसके लिये सबसे बढ़कर है। उसीको अपनाकर सबके साथ प्रेम करना चाहिये।

कुछ काल पूर्व तो यह देखा जाता था कि कितने ही साधक दूसरे साधकको देखकर खुश हो जाते, मग्न

…नस भगवद्बुद्धिपूर्वक समान और निष्काम प्रेम करनेसे भगवत्प्राप्ति

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीभगवान् प्रेमस्वरूप और चिन्मय हैं । यद्यपि प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमी—इनके नाम और स्वरूप अलग-अलग कहे जाते हैं; किंतु वास्तवमें एक भगवान् ही तीनों रूपोंमें प्रकट हैं । भगवत्प्रेमी पुरुष जब भगवान्को प्राप्त हो जाता है तब वह भगवान्में ही तद्रूप हो जाता है; फिर वह भगवान्से अलग नहीं समझा जाता । सबके प्रेमास्पद एक भगवान् ही हैं और प्रेम तो भगवान्का स्वरूप है ही । चाहे यों समझें कि प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमीके रूपमें प्रेम ही प्रकट हुआ है अथवा यों समझें कि भगवान् ही इन तीनों रूपोंमें हैं—दोनों एक ही बात है। जैसे सोनेके कुण्डल, कंठी, कड़े आदिके नाम-रूप अलग-अलग हैं किंतु वस्तुसे वह सब एक सोना ही है—

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳस्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् । (छान्दोग्य उप० ६ । १ । ५)

(अपने पुत्र श्वेतकेतुके प्रति उद्दालकने कहा—)

'सोम्य! जिस प्रकार एक लोहमणि (सुवर्ण) का ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण सुवर्णमय पदार्थ जान लिये जाते हैं; क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, सत्य केवल सुवर्ण ही है ।'

वैसे ही कहनेके लिये तो प्रेम, प्रेमास्पद, प्रेमी—इनके नाम-रूप पृथक्-पृथक् हैं, किंतु वस्तुतः एक प्रेम ही है और यह प्रेम भगवत्स्वरूप, चिन्मय और दिव्य है । जो लौकिक प्रेम होता है, वह इस प्रेमस्वरूप भगवान्के एक अंशका प्रतिबिम्बमात्र है । इसलिये उसको प्रेम न कहकर आसक्ति या स्नेह कहना चाहिये ।

श्रीभगवान्में अनन्य और विशुद्ध प्रेम होनेपर भगवान्की प्राप्ति शीघ्र होती है । 'अनन्य' का अभिप्राय है भगवान्के सिवा अन्य किसीमें भी प्रेम न हो और 'विशुद्ध'का अभिप्राय है अन्य किसी भी प्रकारकी कामना न हो—पूर्ण निष्कामभाव हो । इस असली प्रेमकी प्राप्तिके लिये साधकोंको सबमें भगवद्बुद्धि करनी चाहिये । गीतामें भगवान्ने बतलाया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(गीता ७ । १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें यथार्थ ज्ञानको प्राप्त पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।'

यदि 'सभी भगवान्का स्वरूप है'—यह बुद्धि न हो तो 'सबमें भगवान् हैं'—यह निश्चय करना चाहिये ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(गीता ६ । ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता ।'

यदि यह निश्चय भी न हो तो 'सब कुछ भगवान्का' समझकर सबकी सेवा करनेसे भी प्रेम होकर भगवान्की प्राप्ति हो जाती है ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(गीता १८ । ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है

और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ।'

इसलिये भगवान्‌की प्राप्तिके उद्देश्यसे सबके साथ समभाव रखते हुए निष्काम प्रेम किया जाय तो वह भगवान्‌से ही प्रेम करना है । जो उच्चकोटिके महापुरुष होते हैं, उनका तो सबमें स्वाभाविक समभाव रहता है और साधकके लिये वही साधन है । अतः साधकको उन महापुरुषोंका अनुकरण करना चाहिये । गीतामें महापुरुषोंके समभावका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
(गीता ५ । १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं ।'

यहाँ 'समदर्शन' का अभिप्राय 'समभावसे अनुभव करना' है । श्लोकमें 'समदर्शन' है 'समवर्तन' नहीं; क्योंकि सबके साथ समान बर्ताव हो भी नहीं सकता । बर्ताव तो यथायोग्य ही हो सकता है । दूध तो गौका ही पीया जा सकता है, हथिनी और कुतियाका नहीं; सवारी हाथीकी की जाती है, गौ और कुत्तेकी नहीं; पाखानोंकी सफाई चाण्डाल (मेहतर) से ही करायी जा सकती है, ब्राह्मणसे नहीं । घास हाथी और गौको खिलाया जा सकता है, कुत्ते, चाण्डाल और ब्राह्मणको नहीं । एवं जैसे हम अपने मस्तकसे ब्राह्मण-जैसा, हाथोंसे क्षत्रिय-जैसा, जङ्घासे वैश्य-जैसा और पैरोंसे शूद्र-जैसा बर्ताव करते हैं, किसीका विशेष आदर करते हैं तो उसके चरणोंमें मस्तक नवाते हैं अथवा हाथ जोड़ते हैं और किसीके भूलसे भी हमारा पैर लग जाता है तो हाथ जोड़ते हैं, क्षमा-याचना करते हैं । इस प्रकार सारे अङ्गोंका व्यवहार भिन्न-भिन्न होते हुए भी सारे अङ्गोंमें अपनापन और प्रेम समान ही है—उसमें कोई भेद नहीं रहता । इसी प्रकार सबसे यथायोग्य भिन्न-भिन्न बर्ताव करते हुए भी सबमें आत्मभाव, भगवद्भाव, प्रेमभाव समानरूपसे होना चाहिये । महापुरुषोंका तो यावन्मात्र सभी प्राणियोंमें स्वाभाविक ही समभाव रहता है, अतः वे ही प्रशंसनीय हैं—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(गीता ६ । ९)

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है ।'

साधारण मनुष्योंका वैरीमें द्वेष और मित्रमें प्रेम होता है । सुहृद्‌में प्रेम और द्वेष्यमें द्वेष होता है । धर्मात्मामें प्रेम और पापीमें द्वेष होता है । बन्धु-बान्धवोंमें प्रेम और अन्य लोगोंमें द्वेष या उपेक्षाबुद्धि होती है । किंतु भगवत्प्राप्त महापुरुषोंका तो सदा ही सबमें समान भाव रहता है, किसीमें भी कभी भेदभाव नहीं रहता । अतः हमलोगोंको सबके प्रति समान और निष्काम भावसे प्रेम करना चाहिये ।

भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार, भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रीति अथवा भगवान्‌के ही लिये जो किसीके साथ भी निष्काम भावसे प्रेम किया जाता है उसका फल भगवत्प्राप्ति ही है । अतः सबको भगवान्‌का स्वरूप समझना या सबमें भगवान्‌को व्यापक समझना अथवा सब कुछ भगवान्‌का समझना—इन तीनोंमेंसे जो भाव जिसके अनुकूल हो, जिसमें जिसकी श्रद्धा-रुचि हो वही उसके लिये सबसे बढ़कर है । उसीको अपनाकर सबके साथ प्रेम करना चाहिये ।

कुछ काल पूर्व तो यह देखा जाता था कि कितने ही साधक दूसरे साधकको देखकर खुश हो जाते, मग्न

...जाते, हरे-भरे हो जाते और उसमें गुणबुद्धि करते थे। दोषबुद्धि तो उनकी कभी होती ही नहीं थी। अपनेसे एक-दूसरेमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सद्गुण और सदाचार अधिक दीखते एवं ये सब मुझमें आवें—ऐसी आकाङ्क्षा रखते; किंतु आजकल तो कई लोग दूसरेमें दोषबुद्धि करके उसमें अवगुण-ही-अवगुण देखते हैं, यह प्रत्यक्ष पतनका मार्ग है। इसी कारण अधिकांश साधकोंकी उन्नति नहीं होती।

यह सारा संसार भगवान्‌का ही संकल्प होनेसे भगवान्‌का ही स्वरूप है। अतः सबमें भगवद्भाव करके हम निरभिमान और निष्काम भावसे सबकी सेवा करें तो यह बहुत ही उत्तम साधन है। किंतु ऐसा भाव न हो तो आकाशकी भाँति भगवान् सबमें व्यापक हैं—यह तो युक्तिसंगत और शास्त्रसंगत है ही, इसलिये हमारा यह भाव तो प्राणिमात्रमें, जड-चेतन सभीमें स्वाभाविक ही होना चाहिये। जिसका ऐसा भाव हो जाता है उसके द्वारा दूसरेका अनिष्ट तो कभी हो ही नहीं सकता, वरं सबमें स्वाभाविक ही समता और प्रेम बढ़ने लगता है। यह निश्चित है कि दूसरेमें दोषबुद्धि होनेसे ही द्वेषभावकी वृद्धि होती है और गुणबुद्धि होनेसे स्वाभाविक ही प्रेम होता है। मनुष्यकी तो बात ही क्या, हमारे सम्मुख कोई भी प्राणी आवे, उसमें भगवान्‌को व्यापक समझकर हमें प्रसन्न होना चाहिये। दोष तो अपने सुधारके लिये केवल अपनेमें ही देखना चाहिये। अपने दोषोंको देखनेपर वे दोष ठहरते नहीं। दूसरोंमें तो सभीमें गुणबुद्धि ही होनी चाहिये, दोषबुद्धि तो होनी ही नहीं चाहिये। दूसरोंमें दोषबुद्धि करनेसे बड़ी भारी हानि है। दोष तो मलके समान है। मलके साथ किसी वस्त्र या अङ्गका स्पर्श हो जाता है तो वह गंदा हो जाता है। यदि हम दूसरेके दोषोंको नेत्रोंसे देखते हैं तो हमारे नेत्र गंदे हो जाते हैं, कानोंसे सुनते हैं तो कान गंदे हो जाते हैं, वाणीसे किसीके दोषकी चर्चा करते हैं तो वाणी गंदी हो जाती है और मनसे परदोषचिन्तन करते हैं तो मन गंदा हो जाता है। इस तरह दोषोंके सङ्गसे मनुष्य मलिन होकर उसका पतन हो जाता है।

यही नहीं, दूसरोंके दोषोंका कथन, श्रवण, दर्शन और चिन्तन करनेमें और भी अनेक दोष हैं—

(१) दूसरोंमें अवगुणबुद्धि होनेसे उसके प्रति घृणा होती है और अपनेमें अच्छेपनका अभिमान बढ़ता है जो महान् हानिकर है।

(२) दूसरोंकी निन्दा करने और सुननेसे जिसकी हम निन्दा करते या सुनते हैं, उसे बड़ा दुःख होता है तो यह भी हमको पाप लगता है।

(३) दूसरोंके दोषोंके चिन्तन, दर्शन, श्रवण और कथनसे उनके संस्कार बीजरूपसे हमारे अन्तः-करणमें जमते हैं, जो भविष्यमें वृक्षरूप होकर हमें भी वैसा ही दोषी बना देते हैं।

(४) किसीके भी दोषोंकी आलोचना करने, सुनने और कहनेसे उस पापीके पापके अंशका भागी बनना पड़ता है यानी आंशिकरूपसे उस पापका फल-भोग हमें भी करना पड़ता है।

इन सब बातोंको विचारकर मनुष्यको उचित है कि दूसरोंके अवगुण, दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसनको न कभी देखे, न आलोचना करे, न संकल्प करे, न कहे और न सुने; क्योंकि ये सभी कर्म पापमय, महान् हानिकर एवं पतनकारक हैं। अतः कल्याणकामी मनुष्यको इनसे सर्वथा बचकर रहना चाहिये; क्योंकि इन दोषोंके रहते हुए सबमें प्रेम होना तो दूर रहा, उल्टे द्वेषकी ही वृद्धि होती है। प्रेम तो सबमें गुणबुद्धि करनेसे होता है।

यदि मनुष्य स्वार्थभावसे भी किसीसे प्रेम करे तो इसके फलस्वरूप इस लोकमें उसके स्वार्थकी सिद्धि

होती है, कीर्ति होती है और मरनेके बाद उसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। किंतु यदि सबसे निष्काम और समान भावसे प्रेम किया जाय तब तो उसे परमात्माकी प्राप्ति ही हो जाती है।

अपने साथ कोई प्रेम करे तो उसके साथ तो प्रेम करना ही चाहिये; क्योंकि मनुष्यकी तो बात ही क्या, पशु-पक्षी भी अपने साथ प्रेम करनेवालेसे प्रेम करते हैं; किंतु साधकोंको तो सभीसे प्रेम करना चाहिये। जो उनके साथ प्रेम न करें, उनके साथ भी उन्हें प्रेम करना चाहिये। बल्कि जो उनके साथ द्वेष करें, उनके साथ भी उन्हें प्रेम ही करना चाहिये।

सबसे प्रेम होनेके लिये और प्रेमकी वृद्धिके लिये निरभिमान और निष्काम भावसे उनकी सेवा करना, हरेक प्रकारसे उनको सुख पहुँचाना और उनमें गुण-बुद्धि करके उनके गुणोंका ही दर्शन, आलोचना, कथन और गायन करना चाहिये। इससे ऊँचे-से-ऊँचे और नीचे-से-नीचे व्यक्तिमें भी प्रेम हो सकता है। हम भगवान्‌की सेवा करें, उनका गुणगान करें तो भगवान्‌में, महापुरुषोंकी सेवा और गुणगान करें तो महापुरुषोंमें एवं किसी साधारण पुरुषकी सेवा और गुणगान करें तो उस साधारण पुरुषमें स्वाभाविक ही प्रेम हो जाता है। कहाँतक कहा जाय, यदि हम दुष्ट, पापी और नीचकी भी सेवा-शुश्रूषा करें, उसे सुख पहुँचावें और उसके सच्चे गुणोंका कथन करें तो उसमें भी प्रेम हो जाता है, फिर औरोंकी तो बात ही क्या है। यही नहीं, जो हमारे साथ असद् व्यवहार करे, हमारा अनिष्ट या अहित करे, उसका भी हमें हित ही करना चाहिये। जैसे, धृतराष्ट्रने कुन्तीको वारणावत नगरमें पुत्रोंसमेत जलानेका प्रबन्ध किया और बारम्बार उसके साथ बुरा व्यवहार किया किंतु कुन्तीने उनके दुर्व्यवहारको भूलकर गान्धारी और धृतराष्ट्रकी आजीवन सेवा ही की (देखिये महाभारत आदिपर्व १४४ से १४७; आश्रमवासिक पर्व १-२, १५-१९)। हमें भी कुन्तीके इस आचरणको आदर्श मानकर अहित करनेवालेके साथ भी हित ही करना चाहिये।

कोई भी मनुष्य हमारे सम्मुख उपस्थित हो, हमारी किसीसे भी भेंट हो, हमें "उसका हित कैसे हो'— यह सोचकर उसकी निष्कामभावसे सेवा करनी चाहिये, उसके गुणोंको देख-देखकर मुग्ध होना चाहिये, प्रसन्न होना चाहिये, हरा-भरा हो जाना चाहिये और गुणग्राही बनना चाहिये। संसारमें ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं, जिसमें दोष ही दोष हो, कोई गुण न हो और ईश्वर एवं महात्माको छोड़कर ऐसा भी कोई व्यक्ति नहीं जिसमें गुण ही गुण हो, कोई अवगुण न हो।

अतएव मनुष्यको सिद्धान्तरूपसे अपना यह उद्देश्य बना लेना चाहिये कि सबके साथ समान और विशुद्ध निष्काम प्रेम हो। ऐसा लक्ष्य बनाकर अभिमान और स्वार्थसे रहित हो सबके साथ विनय और प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिये। किसीसे भी जो भगवत्प्रीतिके लिये प्रेम किया जाता है, वह भगवान्‌के साथ ही है। अतएव साधकोंको उचित है कि सबको भगवत्स्वरूप या सबमें भगवान्‌को व्यापक अथवा सब कुछ भगवान्‌का समझकर सबके साथ भगवत्प्रीत्यर्थ निष्काम प्रेम बढ़ावे, इससे सारे दोषोंका सर्वथा अभाव होकर परम प्रेमस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रेमी भक्त उद्धवके प्रति कहा है—

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः॥
इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते।
सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः॥
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥

रेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि॥
(श्रीमद्भा० ११। २९। १२-१५)

'शुद्धान्तःकरण पुरुष आकाशके समान बाहर और भीतर परिपूर्ण एवं आवरणशून्य मुझ परमात्माको ही समस्त प्राणियोंके और अपने हृदयमें स्थित देखे। निर्मलबुद्धि उद्धव! जो साधक केवल इस ज्ञानदृष्टिका आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंमें मेरे स्वरूपका अनुभव करता है और उन्हें मेरा ही रूप मानकर आदर-सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मणभक्त, सूर्य और चिनगारी एवं कृपालु और क्रूरमें समान दृष्टि रखता है, वही सच्चा ज्ञानी माना गया है। जब निरन्तर सभी नर-नारियोंमें मेरी ही भावना की जाती है तब शीघ्र ही साधकके चित्तसे अहंकारसहित स्पर्धा, ईर्ष्या, तिरस्कार आदि सारे दोष दूर हो जाते हैं।'

एक महात्माका प्रसाद

हे मानव! तू अपनी महिमा पहचान

(संकलयिता—'माधव') [यथाश्रुत, यथागृहीत]

सत्सङ्गका आयोजन जीवनके अभावका अभाव करनेके लिये होता है। सत्सङ्गका अर्थ है प्रभुका सङ्ग, अपने रचयिताका सङ्ग। सृष्टिका कर्त्ता हम सबका अपना अवश्य है। किसी भी कृतिके पीछे उस कर्ताकी सत्ता रहती है। इस दृष्टिसे यह सत्य है कि कोई हम सबका अपना है, जिसके सम्बन्धमें संतोंसे, शास्त्रोंसे सुना तो है, पर जिसे देखा नहीं है। जो कुछ हमारे देखनेमें आया है, उससे प्रतीत हुआ कि मिले हुए-पर हमारा अधिकार नहीं है।

सत्सङ्ग हम अपने द्वारा नहीं करते, इसीसे भूल हो जाती है। जो मिला है या दिखायी देता है, उसे कुछ तो दुःखरूप मानते हैं, कुछ 'नहीं' मानते और कुछ प्रभुकी लीला मानते हैं। मिला हुआ जब जैसा दिखायी देता है, वह वैसा है नहीं, उसपर हमारा कोई अधिकार नहीं है। हम अपने ज्ञानका अनादर करते हैं, इसीसे दुःख पाते हैं।

सत्कर्म, सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन सत्सङ्ग नहीं हैं। यह तो सत्सङ्गका परिणाम है। मिला हुआ रहेगा नहीं, मिले हुए रहेंगे नहीं, इतना ही तो ज्ञान है। फिर ममता और कामना कहाँ रहेंगी? मिले हुए पदार्थोंसे मिले हुए व्यक्तियोंकी सेवा करना, यही ज्ञानका क्रियात्मक रूप है। सत्सङ्ग कोई अभ्यास नहीं है। सत्यको स्वीकार कर लेना ही सत्सङ्ग है। सत्सङ्ग मानवमात्र स्वाधीनतापूर्वक अपने-आप कर सकता है। ममतारहित, कामनारहित, सुने हुएमें विश्वास, यही तो सत्सङ्ग है। हमारे रचयिताने हमें यह सारी शक्ति देकर भेजा है। उसने ज्ञान देकर स्वाधीन बना दिया। उसकी करुणाका क्या वारापार है? श्रद्धा विश्वास प्रदान करती है, विश्वास आस्था लाता है। सामर्थ्य, श्रद्धा, ज्ञान सबको प्राप्त है। प्रभुने समस्त साधनसामग्री दी है, ताकि आपकी जय-जयकार हो। सुने हुएपर विश्वास, मिले हुएका सदुपयोग, ज्ञानका आदर—यही सत्सङ्गकी महिमा है। कर्म-सामग्री, भाव-शक्ति सभी प्राप्त हैं। ज्ञानका अनादर तो हम स्वयं करते हैं। ईश्वर क्या है? यह तो ईश्वर ही जानता है। फिर हम उसपर क्या हुकूमत चलायें? माननेका एक मात्र उपयोग प्रभुपर ही हो सकता है। अलग होनेके लिये मिले हैं, मरनेके लिये जन्मे हैं। यह जानते ही हम निर्मम, निष्काम और असङ्ग होकर समता, चिर-शान्ति और निर्विकारताको अपने-

आप अपने अंदर विकसित होते पायेंगे । जहाँ समता है, वहीं योग है; जहाँ निर्विकारता है, वहीं सौन्दर्य है और जहाँ शान्ति है, वहीं सरसता है । सत्सङ्गके द्वारा हम कर्तव्यनिष्ठ, असङ्ग शरणागत हो सकते हैं । जब हम अपने सत्यको स्वयं ठुकराते हैं, तभी हम दुखी होते हैं ।

जिस किसीको जो कुछ वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य मिली है, वह जगत्के लिये है । जो श्रद्धा-विश्वास मिला है, वह प्रभुके लिये है और जो ज्ञान है, वह अपने लिये है । भजनका अर्थ है निरभिमानता, उदारता, प्रियता । ईश्वरवाद कहता है—'ईश्वर प्यारका सागर है ।' अद्वैतवाद कहता है 'ईश्वर ज्ञानका सागर है' और भौतिकवाद कहता है 'ईश्वर सम्पूर्ण कर्मोंका केन्द्र है ।' अपने द्वारा जाने हुए असत्का त्याग और सत्यको स्वीकार करें । इसीके द्वारा आप अपने प्यारे रचयिताको अपना सकते हैं ।

सत्सङ्ग मानवमात्रका स्वधर्म है । स्वधर्मके सम्पादनमें हम सभी स्वाधीन हैं । सत्सङ्गका फल है—साधनकी अभिव्यक्ति और असाधनका नाश । सत्सङ्गसे साधनकी उपलब्धि होती है । साधनसे साध्यकी प्राप्ति होती है । साध्य वही है जो आपका जीवन है । साधन और साध्य—दो चीजें नहीं हैं । भोगके क्षेत्रमें साधन, साध्य अलग हैं, परंतु सत्सङ्गमें वैसा नहीं । साधन और जीवनमें विभाजन नहीं हो सकता । योगसे योगीका, ज्ञानसे ज्ञानीका और प्रेमसे प्रेमीका विभाजन नहीं हो सकता । जिसका विभाजन नहीं हो सकता, वह है साधन । साधन उपाय हो, साध्य फल हो, ऐसा नहीं । साधन सत्सङ्गका फल है । साधन ही जिसका स्वभाव हो वही साध्य है । साधन जिसकी माँग हो, वही है साधक । जैसे प्रेमी और प्रेमास्पद एक हैं, वैसे ही साधन और साध्य एक हैं । प्रत्येक व्यक्ति सत्सङ्ग करने और सत्सङ्गी होनेमें स्वाधीन है । स[illegible]ग[illegible] मानवका स्वधर्म है ।

सुने हुएमें श्रद्धा, मिले हुएका उपयोग और जाने हुएका आदर, यही स्वधर्म है । सत्सङ्गमें प्राणी पराधीन नहीं है । सत्सङ्गसे सत्-चिन्तन होने लगता है, सत्कर्म होने लगता है । मिले हुएका उपयोग हम अपने आप नहीं कर सकते, एक विधानके अनुसार कर सकते हैं । यही है कर्म-विधान । वह विधान सबमें मौजूद है । जब रुचिपर विधान विजयी होता है तभी होते हैं धर्मात्मा । रुचिपर विधानकी पराजय ही पतनका लक्षण है । रुचि और विधानकी एकता ही वास्तविक जीवन है । विधानके अधीन रुचिको बनाओ, रुचिके अधीन विधानको नहीं । रुचिकी उत्पत्ति होती है पराधीनताके सुखके भोगसे । विधानका ज्ञान होता है योगसे, रुचि उत्पन्न होती है भोगसे । विधान प्रगतिका लक्षण है, रुचि पराधीनताका । योगसे विधानको जानें, भोगसे उत्पन्न रुचिपर विजयी हो जायँ, इसके दो उपाय हैं—धर्म-विज्ञान और योग-विज्ञान ।

धर्म और योग एक ही सिक्केके दो पहलू हैं । सही करनेसे प्रवृत्तिका नाश होता है । भोगका आरम्भ भूलसे होता है । भूल कबसे हुई, पता नहीं । परंतु अभी मिट सकती है । भूल मिटानेका सबसे सुन्दर उपाय है—अपने जीवनमें अपनी भूल जाननेके लिये कुछ काल आराम करनेका समय निकालें । भूलका ज्ञान भूलके नाशका हेतु है । भूलके नाशका जो उपाय है, वही सत्सङ्ग है ।

कर्म परिस्थितिके अनुसार होता है । वस्तु, परिस्थिति, योग्यता, सामर्थ्य आदिका सम्बन्ध है । ऐसा काम न करें जो औरोंके लिये अहितकर हो जाय, किसीके विनाश और अवनतिका कारण बन जाय । हम वह नहीं करेंगे जो औरोंके लिये अहितकर हो ।

[प्रे]मीकी प्रत्येक चेष्टा स्वाभाविक ही प्रेमास्पदके [ल]िये ही होती है और होती है वह सर्वस्व समर्पण करके अत्यन्त सुचारुरूपसे । पर वह प्रेमी न अपनेमें सेवाकी योग्यता देखता है और न अपने पास सेवाके योग्य सामग्री पाता है । वह यही मानता है कि 'मेरे प्रेमास्पदका शील ही ऐसा है कि मेरे प्रति अनुराग होनेके कारण वे स्वाभाविक मेरी प्रत्येक अस्तव्यस्त चेष्टाओंको अपनी परम सेवा ही मानते हैं ।' इसी भावसे भावित श्रीराधाका परम प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें एक प्रसंग है ।

श्रीराधाजी कहती हैं—

नहीं शक्ति, सामर्थ्य न कुछ भी,
नहीं योग्यता, नहीं पदार्थ ।
नहीं भाव कुछ, त्याग न कुछ भी,
भरा मन्द जीवनमें स्वार्थ ॥
तन मन मलिन, न शोभा-सुषमा,
नहीं कहीं सुन्दरता-लेश ।
कैसे क्या देती तुमको मैं ?
दीन हीन अति, तुम सर्वेश ॥

न तो मुझमें सेवा करनेकी शक्ति है, न कुछ भी सेवा-सामर्थ्य है, न सेवाकी योग्यता है, न सेवाके योग्य कोई पदार्थ है, न सेवाके भाव हैं और न तनिक-सा भी त्याग है । समस्त जीवन नीच स्वार्थसे पूर्ण है । मेरा मन और तन सभी मलिन हैं, न शोभा-सुषमा ही है, न कहीं तन-मनमें सौन्दर्यका ही लेश है । इस अवस्थामें मैं तुमको कैसे क्या देकर सेवा करती ? मैं अत्यन्त दीन-हीन हूँ और तुम सर्वेश्वर हो !

सेवाका उपकरण न कुछ भी,
नहीं हृदयमें कुछ भी चाव ।
तो भी मान रहे तुम सेवा,
परम विचित्र तुम्हारा भाव ॥
गुण वर्णन करते न अघाते,
देते बार बार सम्मान ।
बारंबार ऋणी बनते तुम,
षड्-ऐश्वर्य-पूर्ण भगवान ॥

न मेरे पास सेवाके योग्य कुछ सामग्री है, न मेरे हृदयमें जरा भी चाव है; तो भी तुम सेवा मान रहे हो । यह सब तुम्हारा परम विचित्र स्वभाव ही है । तुम अपने इस स्वभाववश मेरा गुण वर्णन करते-करते नहीं अघाते, बारंबार सम्मान प्रदान करते रहते हो और स्वयं समग्र षड्-ऐश्वर्य (ऐश्वर्य, शक्ति, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य) से सम्पन्न होनेपर भी तुम बारंबार मेरे ऋणी बनते हो ।

मेरी सेवासे ही चलते
मानो सभी तुम्हारे काम ।
मुझसे सेवा लिये बिना
तुम पाते नहीं पलक विश्राम ॥
मेरे लिये तुम्हारा ऐसा
है कुछ शुचि अचिन्त्य अनुराग ।
देख रहे इससे तुम मेरी
हर कृतिमें सेवा बड़भाग ॥

तुम्हारे इस प्रकारके बर्ताव-व्यवहारको देखकर ऐसा लगता है मानो तुम्हारे सारे काम मेरे द्वारा की हुई सेवासे ही चलते हैं । मानो मुझसे सेवा प्राप्त किये बिना तुम्हें एक पलके लिये भी विश्राम नहीं मिलता । वास्तवमें मेरे प्रति तुम्हारे मनमें ऐसा कुछ पवित्र और अचिन्त्य मनसातीत अनुराग है । इसीसे तुम मेरी प्रत्येक क्रियाको महान् भाग्यवान् सेवा समझते हो ।

देख तुम्हारा यह पवित्र
अप्रतिम अनोखा शील अमान ।
नहीं समझ पाती मैं कैसे
तुम्हें कराऊँ अपना ज्ञान ॥
कहाँ नगण्य, नित्य सेवासे
विरहित, मैं अति तुच्छ, गवाँर ।
कहाँ विलक्षण तुम 'महान्'का
मेरे प्रति यह अतुलित प्यार ॥

तुम्हारा यह पवित्र, अनुपम, अनूठा, अभिमानरहित शील देखकर मैं समझ नहीं पाती कि तुमको अपने गुणरहित स्वरूपका परिचय कैसे कराऊँ ? कहाँ तो सेवाभाव तथा सेवाशक्तिसे सर्वथा शून्य अत्यन्त तुच्छ, गँवार, नगण्य मैं और कहाँ तुम महान् महिमामयका मेरे प्रति यह अतुलनीय प्रेम !

छिपी इसीसे रहती मैं नित,
रहती सदा गुप्त आवास।
निजको, अपनी हर चेष्टाको,
सदा छिपाती कर आयास॥
पर यदि कभी तुम्हारे सम्मुख,
मैं आ पड़ती प्रेमागार!
करने लगते कैसे क्या तुम,
मानो दबे विपुल ऋणभार॥

गड़ जाती मैं तब लज्जासे
भर जाता उरमें संकोच।
देख तुम्हारी अति उदारता,
निजकी देख परिस्थिति पोच॥
तब तुम हे अनन्त! कैसे क्या,
देते फूँक कान (हृदय) में मंत्र।
उन्मादिनी तुरत हो जाती,
अस्वतन्त्र बन जाती यंत्र॥

इसीलिये मैं सदा छिपी रहती हूँ और सदा गुप्त-स्थानमें निवास करती हूँ, अपनेको तथा अपनी प्रत्येक चेष्टाको सदा प्रयत्नपूर्वक छिपाती रहती हूँ, परंतु यदि कभी हे प्रेमनिधान! मैं तुम्हारे सामने आ पड़ती हूँ तो तुम मुझे देखते ही जैसे कोई ऋणके भारसे दबा हुआ मनुष्य अपने ऋणदाताके सामने कैसा (क्या विनय-संकोच, कृतज्ञता एवं लज्जापूर्ण) व्यवहार करने लगता है, वैसा ही करने लगते हो। तब मैं तुम्हारी इस आत्यन्तिक उदारता और अपनी नीच परिस्थितिको देखकर लज्जाके मारे गड़ जाती हूँ और मेरा हृदय संकोचसे भर जाता है। इसी समय हे अनन्त! तुम मेरे कानमें किस प्रकारका क्या जादू-भरा मन्त्र फूँक देते हो, हृदयको कैसे किस परमाकर्षक मधुर रससे परिपूर्ण कर देते हो कि मैं तुरंत ही उन्मादिनी हो जाती हूँ एवं सर्वथा स्वतन्त्रतारहित एक यन्त्र बन जाती हूँ।

ब्रह्मवेत्ता पुरुषके लक्षण

(लेखक—ब्र० पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा)

[अनुवादक—श्रीसुरेश एम्० भट०]

परिपूर्ण, व्याप्त और सम्पूर्ण प्राणिपदार्थोंके स्वरूपभूत ब्रह्मका जिन महापुरुषके पवित्र, एकाग्र तथा वेदान्त-संस्कारयुक्त अन्तःकरणने सर्वसंशय-विपर्ययरहित अभेद-भावसे अनुभव किया है, उन्हीं महापुरुषको ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मवित्, ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मदर्शी या ब्रह्मानुभवी कहते हैं।

अचल श्रद्धा और उत्साहके साथ विवेकादि साधन-सम्पन्न जो अधिकारी पुरुष अपने सद्गुरु और सत्-शास्त्रके उपदेशानुसार धैर्य, दृढ़ता और सावधानताके साथ सतत प्रयत्नशील रहता है, वही ब्रह्मज्ञानके भूत और वर्तमान प्रतिबन्धकोंको निःशेष दूर करके ब्रह्मज्ञानी हो सकता है।

दम्भ, आलस्य, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, कर्तव्याकर्तव्यके विवेकसे हीन, परनिन्दा, अश्रद्धा, असहनशीलता और चञ्चलता आदिसे युक्त मनुष्यको सदाग्रहसे अपने अन्तःकरणादिकी अपात्रताको दूर करनेके लिये धैर्य, सावधानता, दृढ़ता और उत्साहके साथ सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। जिसने निष्कामकर्म, सद्गुरुकी सेवा, अपने प्राप्त व्यवहारका निर्दोष रीतिसे सेवन करनेके द्वारा अन्तःकरणको मलिन विचारोंसे रहित कर लिया हो, अन्तःकरणकी चञ्चलताको मिटा दिया हो, विवेक-वैराग्य-शमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता—इन चार ब्रह्मज्ञानके साधनोंको यथासामर्थ्य प्राप्त किया हो, ब्रह्मवेत्ता सद्गुरुके द्वारा ब्रह्मोपदेशका श्रवण करके उसका यथाविधि मनन और निदिध्यासन किया हो, वही पुरुष ब्रह्मवेत्ता बन सकता है। ऐसा अधिकार प्राप्त किये बिना कोई भी ब्रह्मवेत्ता नहीं हो सकता।

जो मनुष्य सत्ता, द्रव्य किंवा विद्यादिके मदसे युक्त है, वह श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ एवं परम कारुणिक सद्गुरुकी

...में जाकर ब्रह्मका उपदेश प्राप्त करनेमें असमर्थ है। अन्तःकरणकी सम्पूर्ण विशुद्धि किये बिना सबके अधिष्ठानभूत ब्रह्मका कोई भी मनुष्य साक्षात्कार नहीं कर सकता। इसीलिये विवेकी मनुष्यको सदा अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये प्रयत्नवान् रहना चाहिये।

ब्रह्म असङ्ग, अक्रिय, व्यापक, परमपवित्र, अभोक्ता, सर्वदुःखरहित, सर्वविषयोंकी तृष्णासे रहित और परमानन्दरूप है। ब्रह्मवेत्ता पुरुषको, ऐसे स्वभावसे युक्त ब्रह्म ही उसका अपना वास्तविक स्वरूप है—ऐसा सब प्रकारके संशय-विपर्ययसे रहित स्पष्ट अनुभव होता है।

अन्तःकरणमें शुद्ध सत्त्वगुणकी स्थिरता होनेपर ही ब्रह्मभावना या निदिध्यासन करनेवाले साधकको अन्तःकरणमें ब्रह्मज्ञानका आविर्भाव होता है। जब शुद्ध सत्त्वगुणसम्पन्न अन्तःकरणको परम सत्यरूप परमानन्दका अनुभव होता है, तब उसका अनादि-कालका परिताप दूर हो जाता है और वह परमानन्दरूप बनकर परम शान्त और परम तृप्त हो जाता है।

ब्रह्मवेत्ता पुरुषके अन्तःकरणमें आत्माका सुस्पष्ट साक्षात्कार होनेसे उसको यह जगत् सर्वथा असत् प्रतीत होता है। मनुष्यके अंन्तःकरणकी जाग्रदवस्थामें प्रतीत होते हुए ये प्राणी-पदार्थ और क्रियाएँ ब्रह्ममें प्रवेशित नहीं हैं। ऐसी अनुभूति विशुद्ध और सूक्ष्मबुद्धियुक्त ब्रह्मवेत्ताको होती है।

अन्तरात्मासे अभिन्न ब्रह्मकी अनुभूति करनेवाले ब्रह्मवेत्ता अविद्या, काल, कर्म तथा कर्मके सुख-दुःखरूप परिणामके वश नहीं रहते; वे सबसे सर्वदा निर्लेप और स्वतन्त्र ही रहते हैं। ब्रह्मवेत्ता अपने अन्तःकरणको तथा उसके सुख-दुःखादि धर्मोंको अपने ब्रह्मस्वरूपसे भिन्न और मिथ्या समझता है। इसीलिये ऐसा पुरुष अनुकूल विषयकी प्राप्तिमें हर्ष और प्रतिकूल विषयकी प्राप्तिमें उद्वेगके वश न होकर सर्वदा समभावयुक्त अथवा प्रसन्न रहता है।

जिसने अपने समर्थ सद्गुरुके ब्रह्मोपदेशरूप अलौकिक अमृतका परमादरपूर्वक पान करके देवलोकके अमृतका अनादर किया है, उस ब्रह्मवेत्ताके इहलोक-परलोक एवं ज्ञानप्राप्ति तथा मोक्षप्राप्तिके लिये कोई कर्तव्य अवशेष नहीं रह गया है। मनोनाश और वासनाक्षयकी उत्तरोत्तर वृद्धि होनेपर ऐसा ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्त, महामुक्त और अतिमुक्त आदि नामोंसे प्रसिद्ध होता है।

जिसका चित्त परमसुख और परमज्ञानके महासागररूप परब्रह्ममें लीन हो गया है, वह ब्रह्मवेत्ता अपने लौकिक कुलको पवित्र करनेवाला अपने स्थूलशरीरके माता-पिताको अपनी अद्भुत स्थितिसे संतोष प्रदान करनेवाला एवं अपने निवास और परिभ्रमणसे पृथ्वीको पवित्र करनेवाला होता है। ऐसा परमपूज्य, प्रातःस्मरणीय, वन्दनीय और विश्वका श्रेष्ठ अलंकाररूप ब्रह्मवेत्ता देहादि जड पदार्थोंमें आत्मपनकी बुद्धि तथा दृश्य पदार्थोंमें ममता आदि नहीं रखता। सर्वदा निर्भय, दृढनिश्चयी, प्राप्त सुख-दुःखको मिथ्या समझकर सर्वदा प्रसन्न रहनेवाला, शुभ-अशुभ ऊँच-नीच आदि संसारके सर्व विकल्पोंसे रहित, अन्तःकरणको आत्माभिमुख रखनेमें समर्थ एवं प्राकृत मनुष्योंके समूहमें तथा सम्मानमें अप्रीति रखनेवाला ब्रह्मवेत्ता सर्वदा समादरका अधिकारी है।

संसारकी अत्यधिक निवृत्तिके लिये जिसने ब्रह्मोपदेष्टा सद्गुरुकी परमादरपूर्वक आराधना करके उनकी असीम कृपासे अपने अन्तःकरणकी अन्तर्मुखताके द्वारा अपने ब्रह्मस्वरूपका यथार्थ अनुभव किया है, ऐसा कृतार्थ ब्रह्मवेत्ता केवल हृदयमें, देवप्रतिमामें, अग्निमें किंवा तीर्थमें ही ब्रह्मका अनुभव नहीं करता, वह सर्वत्र ही सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मका अनुभव करता है।

जिस स्थानमें दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति है, जहाँ अपवित्रताका चिह्न भी नहीं है, जहाँ माया और उनके

कार्यरूप प्राणिपदार्थोंका अत्यन्त अभाव होनेसे सर्वदा एकान्त है, जहाँ जडता आदि तमोगुणके धर्म, चञ्चलता आदि रजोगुणके धर्म तथा सुखाभिमानादि मलिन सत्त्वगुण-के धर्म नहीं हैं, जहाँ केवल चैतन्य और उपाधिरहित स्वाभाविक आनन्द-ही-आनन्द है, जहाँ परमनिश्चलता और परमगम्भीरताका ही प्रसार है, जहाँ तेजका अधिकरणरूप कोई पदार्थ नहीं है तथा जिस स्थानका वाणीसे निरूपण करना कठिन है, ऐसे स्थानमें जिन पुरुषोंके चित्त अधिष्ठानमें लीन हो गये हैं, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष अभेदभावसे निवास करते हैं।

जो अपनेको मुमुक्षु मानते हैं, उन्हें अपने जीवनकी क्षणभंगुरताका निश्चय करके अपने हृदयस्थ श्रद्धा-विश्वासके अनुसार वर्तमान जन्ममें ही ब्रह्मवेत्ता बन जा सके, ऐसा दृढ़ प्रयत्न करना चाहिये।

शांकर वेदान्तमें मुक्तिका स्वरूप

(लेखक—डाक्टर श्रीराममूर्तिजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, शास्त्री)

ब्रह्मकी जीवरूपताका मूल कारण अविद्या है। अविद्याके द्वारा ही जीवमें कर्तृत्वादिका अभिमान उत्पन्न होता है। विद्याकी उत्पत्ति एवं अविद्याकी निवृत्ति होनेपर जीव अपने स्वरूपका बोध कर लेता है। यह आत्मबोध ही मुक्ति है। मुक्ति प्राप्त होनेपर जीवका जीवत्व नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार अविद्या-वश जबतक रज्जुका सर्परूपेण ज्ञान होता है तबतक सर्पजन्य भय आदि बन्धन बने रहते हैं; परंतु जब वास्तविकतारूप रज्जुका ज्ञान हो जाता है तब भ्रान्तिकालीन सर्पके नष्ट हो जानेपर तज्जन्य भयादि बन्धन भी स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार कूटस्थ ब्रह्मात्मताके बोधके द्वारा जीवका जीवत्व नष्ट होनेपर जीवके सुख-दुःखादि बन्धन भी स्वतः नष्ट हो जाते हैं।[1] इस प्रकार बन्धन और मोक्षका व्यवहार भी मायिक ही है।[2] ब्रह्म स्वभावसे नित्य शुद्ध एवं मुक्त है। मुक्तिकी विस्तृत चर्चाका यही आधार है।

श्रीशंकराचार्यने मोक्षका स्वरूप निश्चित करते हुए लिखा है कि मोक्ष पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, व्योमवत्, सर्वव्यापी, सर्वविकाररहित, नित्य तृप्त, निरवयव एवं स्वयंप्रकाश स्वभाववाला है। इस अवस्थामें धर्म और अधर्म अपने कार्य—सुख-दुःखसे त्रिकालमें भी सम्बन्ध नहीं रख सकते। यही शरीररहित स्थिति मोक्ष है।[3] जिस प्रकार शुक्ल स्फटिक मणिमें रक्त-नीलादि उपाधियोंके कारण स्फटिक शुद्ध रूपमें नहीं दिखायी देता। फिर उन उपाधियोंके हट जानेपर शुद्ध रूपका ज्ञान हो जाता है; उसी प्रकार जीवको भी देहादि उपाधिके कारण आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं होता, परंतु विवेकके द्वारा उसे आत्मस्वरूपका ज्ञान हो जाता है। यही आत्मस्वरूपकी बोधावस्था मुक्तावस्था है। मोक्षकी उपादेयता बन्धनकी निवृत्तिमात्र है। इस मुक्तावस्थामें ही आत्मानन्दकी प्राप्ति होती है। आचार्य चित्सुख अनवच्छिन्नानन्द प्राप्तिको ही मोक्ष कहते हैं।[4] आत्मा स्वरूपतः चिदानन्दघन है। उसका यह रूप अविद्याकी आवरणशक्तिके द्वारा बाधित होनेके कारण नहीं जाना जाता। मुक्तिके सम्बन्धमें इस प्रश्नका उठाना स्वाभाविक है कि मुक्त पुरुषका इस धराधामके प्रपञ्चके साथ क्या सम्बन्ध है? मुक्त पुरुषके लिये इस प्रपञ्च-रूप जगत्की सत्ता रहती है या नहीं? इसके उत्तरमें यह कहा जायगा कि मुक्त पुरुषके लिये यह प्रपञ्चरूप जगत् उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार अग्निके द्वारा घृतका काठिन्य नष्ट हो जाता है। यदि मोक्षका आशय प्रपञ्चरूप जगत्के विनाशसे हुआ होता तो सर्वप्रथम मुक्त पुरुषके होने-पर ही जगत्का विनाश हो गया होता।[5] मुक्त पुरुषके लिये भी इस द्वैत जगत्का विनाश न होकर 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' के अनुसार केवल द्वैतबुद्धिका नाश हो जाता है। जगत्के

१. मुण्डकोपनिषद् २।२।८।

२. बन्धमोक्षोपदेशादिव्यवहारोऽपि मायया। (मानसोल्लास २।५६, अड्यार मद्रास)

३. ब्रह्मसूत्र शा० भा० १।१।४।

४. सि० ले० सं० पृ० ५२८।

५. एकेन चादिमुक्तेन पृथिव्यादिप्रविलयः कृत इदानीं पृथिव्यादिशून्यं जगदभविष्यत्। (ब्र० सू० शा० भा० ३।२।२१)।

...ं उसकी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की अनुभूति होती है। ब्रह्मवेत्ताका जगत्‌के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ब्रह्मज्ञानी स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है।

मुक्तावस्था एवं बद्धावस्थामें यही अन्तर है कि मुक्त पुरुषके लिये अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर मिथ्याभिमान एवं भ्रम-जन्य दुःखाद्यनुभूति नहीं रहती; क्योंकि दुःखाद्यनुभूतिका कारण मिथ्याभिमान ही है। अविद्याजन्य मिथ्याभिमानके कारण ही पुत्र-मित्रादिके मरनेपर संसारी पुरुषोंको मरणजन्य शोककी अनुभूति होती है। अविद्याभिमानसे रहित सच्चे परिव्राजक इस प्रकारकी दुःखाद्यनुभूतिके भाजन नहीं बनते[1]।

श्रीशंकराचार्यके मुक्तिसम्बन्धी मतका समर्थन करते हुए सुरेश्वराचार्यने लिखा है कि जिस प्रकार निद्राभङ्ग होनेपर द्रष्टा स्वप्नमें दृष्ट पदार्थोंको पुनः नहीं देखता है, उसी प्रकार ज्ञानी सम्यग्ज्ञान होनेपर इस विश्वको नहीं देखता[2]। विश्वकी इस स्वप्नमात्रताका यही भाव है कि आत्मैकत्व प्राप्त हो जानेपर बन्ध-मोक्षादि समस्त व्यवहारोंकी परिसमाप्ति हो जाती है।[3] यही माण्डूक्योपनिषद्‌में वर्णित 'प्रपञ्चोपशमत्वं'की स्थिति है।[4]

मुक्त पुरुषके लिये किसी अन्य ब्रह्मलोकका अथवा स्वर्ग-लोककी कल्पना करना भी शांकर दर्शनके प्रतिकूल है। **'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः'** सूत्रमें बादरायणद्वारा उद्धृत आचार्य बादरिके मतकी पुष्टि करते हुए कहा गया है कि सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वरमें गन्तव्यत्वकी उपाधि होनेके कारण उपासक ईश्वरकी प्राप्ति कर सकता है; परंतु परब्रह्ममें गन्तृत्व, गन्तव्यत्व या गतिकी कल्पना नहीं हो सकती; क्योंकि ब्रह्म सर्वगत एवं गमन करनेवालोंका प्रत्यगात्मा है।[5] मुक्त पुरुष स्वयं ब्रह्मरूप ही होता है। अद्वैत मतमें ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है। इसलिये मुक्त पुरुषके लिये कोई गन्तव्य स्थान न होनेके कारण किसी लोकान्तरकी प्राप्तिका प्रश्न उपस्थित नहीं होता।

मुक्तिकी अवस्थाएँ स्वर्गादिकी अनेकविधताके समान अनेक नहीं हैं। ब्रह्म ही मुक्तिकी अवस्था है। ब्रह्मका एक निश्चित स्वरूप होनेके कारण उसके अनेक रूप नहीं हो सकते।[6] अतएव मुक्तिके सम्बन्धमें की गयी भेद-व्यवस्था भी निरर्थक है। मुक्त पुरुष **'नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा'** (छा० उ० ७ । २४ । १) श्रुति-वाक्यके अनुरूप व्यवहारकालके दर्शनादि व्यवहारोंसे सम्बन्धित नहीं होता। मुक्तके लिये आत्माका एकत्वरूप ज्ञान प्राप्त होनेपर समस्त जागतिक विभेद नष्ट हो जाता है। ब्रह्मज्ञानी या मुक्तकी यह स्थिति नितान्त शून्यताकी स्थिति नहीं है। प्रत्युत ज्ञानीके लिये आत्मैकत्व हो जानेपर जगत्‌की भिन्न प्रतीति न होकर समानरूपसे ही प्रतीति होती है।[7]

मुक्तके आत्मैकत्वके सम्बन्धमें भी विद्वानोंकी भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। जैमिनि आचार्यका विचार है कि मुक्तात्मा सर्वज्ञत्व आदि धर्मोंसे युक्त होता है।[8] इसके विपरीत आचार्य औडुलोमि जीवोंके चैतन्यस्वरूप होनेसे चैतन्यरूपमें अवस्थित मुक्त ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वादि शब्दोंकी योजना व्यर्थ ही मानते हैं।[9]

बादरायणका मत है कि पारमार्थिक चैतन्यमात्रके स्वीकार कर लेनेपर भी ब्रह्मस्वरूपके सर्वज्ञत्वादि व्यवहार होनेसे मुक्तात्माके सप्रपञ्चत्व और निष्प्रपञ्चत्वका विरोध नहीं है।[10]

मुक्तात्मा शरीरपात होनेपर पुनः शरीरको धारण करता है अथवा मुक्त होनेपर जन्म ग्रहण करनेके बन्धनसे छूट जाता है? इस समस्यापर विचार करना भी अपेक्षित है। प्राचीन इतिहासमें मुक्तात्माओंके शरीर धारण करनेकी अनेक कथाएँ मिलती हैं। अपान्तरतमा नामके आचार्यने विष्णुकी आज्ञासे कलि और द्वापरकी संधिमें कृष्णद्वैपायनरूपसे जन्म ग्रहण किया था। ब्रह्माके मानसपुत्र वसिष्ठने भी निमिके शापसे पूर्व देहका त्याग करके ब्रह्माके आदेशसे मित्रावरुणके रूपमें जन्म ग्रहण किया था। इस प्रकारके दृष्टान्तोंके सम्बन्धमें यह

---

१. पुत्रो मृतो मित्रं मृतमित्येवमाद्युद्घोषितं येषामेष पुत्र-मित्रादिमत्त्वाभिमानः, तेषामेव तन्निमित्तं दुःखमुत्पद्येत, नाभिमान-हीनानां परिव्राजकादीनाम्। (ब्र० सू० शा० भा० २ । ३ । ४६)

२. निद्रया दर्शितानर्थान्न पश्यति यथोत्थितः। सम्यग्ज्ञानोदया-दूर्ध्वं तथा विश्वं न पश्यति। (मानसोल्लास १ । १२)

३. ब्र० सू० शा० भा० १ । २ । ६ ।

४. मा० उ० ७ ।

५. ब्र० सू० शा० भा० ४ । ३ । ७ ।

६. ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था, न च ब्रह्मणोऽनेकाकारयोगोऽस्ति। (ब्र० सू० शा० भा० ३ । ५ । ५२)

७. मुक्तस्यापि सर्वैकत्वात् समानो द्वितीयाभावः। (शा० भा० छा० उ० ८ । १२ । ३)

८. ब्र० सू० शा० भा० ४ । ४ । ५ ।

९. वही ४ । ४ । ६ ।

१०. ४ । ४ । ७ ।

कहा जायगा कि अपान्तरतमा आदि लोकमर्यादाके अर्थ वेद-प्रवर्तन आदि अधिकारमें नियुक्त हुए थे। अतः उनकी स्थिति अधिकाराधीन है। जिस प्रकार **'अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता'** (छा०उ०३। ११। १) श्रुतिवाक्यके अनुसार सूर्य सहस्र युगोंतक जगत्का अधिकार चलाकर उसकी समाप्ति होनेपर उदय और अस्तसे रहित होनेपर कैवल्यका अनुभव करता है और जैसे आज भी ब्रह्म-वेत्ता आरम्भ-भूति कर्मोंके भोगके क्षीण होनेपर कैवल्यानुभूतिको प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार परमेश्वरके द्वारा तत्-तत् अधिकारोंमें नियुक्त हुए अपान्तरतमा आदि कैवल्य हेतु—सम्यक्-तत्त्व-ज्ञानके होनेपर भी कर्मोंके क्षीण न होनेसे अधिकारपर्यन्त रहते हैं। कर्मोंके क्षीण होनेपर ही कैवल्यप्राप्ति होती है।

शंकराचार्यके परवर्ती अद्वैतवादमें मुक्तिके सम्बन्धमें अनेक मत-मतान्तर प्राप्त होते हैं। सर्वज्ञात्म गुरु जीवन्मुक्तिको ही अस्वीकार करते हैं। इनके मतमें अविद्याके विरोधी ब्रह्मज्ञान-रूप तत्त्व-साक्षात्कारके उदित होनेपर अविद्याकी अनुवृत्ति लेशमात्ररूपसे भी सम्भव नहीं है। इसलिये ये जीवन्मुक्तिके प्रतिपादक शास्त्रको श्रवण आदि विधिका केवल अर्थवाद-मात्र मानते हैं; क्योंकि जीवन्मुक्तिके प्रतिपादनमें शास्त्रका प्रयोजन नहीं प्रतीत होता। सर्वज्ञात्म गुरुका कथन है कि जिस पुरुषने निदिध्यासन किया है, उस पुरुषको ब्रह्म-साक्षात्कारके उदयमात्रसे विलास और वासनाके साथ अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है।[1] आनन्दबोधाचार्य अविद्या-की अनिर्वचनीयताके अनुरूप ही अविद्याकी निवृत्तिको भी अनिर्वचनीय नहीं मानते हैं।[2] जैसा कि कहा जा चुका है कि आचार्य चित्सुख अनवच्छिन्न (शुद्ध) आनन्दकी प्राप्तिको ही मुक्ति मानते हैं; क्योंकि दुःखाभावके स्वतः पुरुषार्थ न होनेसे संसाररूप दुःखकी निवृत्ति भी अविद्या-निवृत्तिके समान सुखका अङ्ग है।

मुक्त पुरुषके सम्बन्धमें इस शङ्काका होना स्वाभाविक है कि मुक्त पुरुष शुद्ध चैतन्यरूपको प्राप्त होता है अथवा ईश्वररूपको? इसका समाधान यह है कि एकजीववादके पक्षमें तो केवल जीवके एक अज्ञानसे कल्पित जीव और ईश्वरके विभाग आदि समस्त प्रपञ्चका उस जीवकी विद्याका उदय होनेपर विनाश होनेसे निर्विशेष चैतन्यरूपसे ही जीवका अवस्थान होता है। अनेकजीववादके सिद्धान्तके अनुसार, जिस पुरुषका ज्ञान उदय हुआ है, उसीके लिये अविद्यादि समस्त प्रपञ्चका विलय होगा। परंतु अन्य बद्ध पुरुषोंकी अविद्यासे जीव तथा ईश्वर-विभाग आदि प्रपञ्चकी अनुवृत्ति होनेपर जीवके समान ईश्वरके भी प्रतिविम्बविशेष होनेके पक्षमें मुक्त पुरुष विम्बभूत शुद्ध चैतन्यरूपसे ही अवस्थित रहता है; क्योंकि अनेक उपाधियोंमें एक ब्रह्मचैतन्यके प्रतिविम्ब होनेपर एक उपाधिके विलयसे उस प्रतिविम्बका विम्बभावसे अवस्थान उचित ही है।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति

जैसा कि साधारणतया समझा जाता है जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति मुक्तिके दो भेद नहीं हैं। इस संदेहकी निवृत्तिके लिये शंकराचार्यने अपने भाष्यमें—

मुक्तावस्था हि सर्ववेदान्तेष्वेकरूपैवावधीयते।

(ब्र० सू० शा० भा० ३। ४। ५)

—कहकर मुक्तिपरक अवस्थाभेदका स्पष्ट निषेध किया है। जीवन्मुक्तिके लिये अविद्याकी निवृत्ति एवं ब्रह्मबोध होनेपर कर्मबन्धन समाप्त हो जाता है; परंतु जिस प्रकार छोड़े हुए बाणकी निवृत्ति वेगका क्षय होनेपर होती है, उसी प्रकार जिस कर्मका फल प्रवृत्त हो चुका है, उसकी निवृत्ति शरीरपात होनेपर ही होती है। जबतक प्रारब्धकर्मोंका भोग समाप्त नहीं हो जाता है, तबतक मुक्त पुरुषको भी जीवन धारण करना पड़ता है। मुक्त पुरुषके जीवन धारण करनेकी समस्या कुम्भकारके चक्रके दृष्टान्तसे स्पष्टतया समझी जा सकती है। जिस प्रकार एक बार चलाया गया कुम्भकारका चक्र तबतक नहीं रुकता, जबतक कि उसका वेग समाप्त नहीं हो जाता; उसी प्रकार मुक्त पुरुषको भी प्रवृत्त फलवाले गत कर्मोंके भोगके लिये जीवन धारण करना ही पड़ता है।[3]

यदि जीवन्मुक्त प्राणी संसारमें रहता है तो मुक्त एवं अमुक्तके बीच क्या अन्तर है? क्या मुक्त पुरुष भी अमुक्त-की तरह कर्म करता रहता है अथवा वह हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ जाता है? इत्यादि प्रश्नोंका होना स्वाभाविक है। इन शङ्काओंके समाधानके लिये यह कहा जायगा कि जिस प्रकार जादू देखनेवाला पुरुष जादूको मिथ्या समझता है। उसी प्रकार जीवन्मुक्त भी मांस, मल-मूत्रादिके पात्र शरीर,

१. सिद्धान्तलेशसंग्रह पृ० ५१४।

२. वही चतुर्थ परि० ५१६।

३. ब्र० सू० शा० भा० ४। १। २५।

…स्वादिके भाजन इन्द्रियसमूह और शोक-मोह आदिके पात्र अन्तःकरणसे पूर्ववासनाके कारण किये जाते हुए कर्मों तथा आरब्ध किये जाते कर्मोंके मुक्त फलोंको देखता हुआ भी परमार्थदृष्टिसे नहीं देखता।'[1] इस प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष सब कुछ देखते हुए भी नहीं देखता और सुनते हुए भी नहीं सुनता। इसके विपरीत अमुक्त अथवा बद्धके समस्त क्रियाकलाप कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अभिमानजन्य होते हैं। बद्ध पुरुषकी शुभाशुभ कर्मोंमें आसक्ति होती है; परंतु जीवन्मुक्त पुरुष शुभाशुभ कर्मोंके प्रति उदासीन होता है। शुभ वासनाओंके अनुरूप जीवन्मुक्तकी प्रवृत्ति शुभ कर्मोंमें ही होती है। जीवन्मुक्तावस्थामें जीवन्मुक्त पुरुष आत्मानुभवमें लीन रहता है। जीवन्मुक्त स्वेच्छाकृत, परेच्छाकृत एवं अनिच्छाकृत कर्मोंसे उत्पन्न सुख-दुःखोंका अनुभव करता हुआ भी अपने ज्ञानके द्वारा सब कुछ तात्त्विक दृष्टिसे देखता है। जब प्रारब्ध कर्मोंके नष्ट हो जानेपर प्राणादि विलीन हो जाते हैं, तब अज्ञान एवं तज्जन्य संस्कारोंके नष्ट हो जानेपर ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रह जाता है।[2] यही विदेहमुक्तिकी अवस्था है। जिस प्रकार घटादि उपाधिके नष्ट हो जानेपर आकाशमात्र अवशिष्ट रह जाता है, उसी प्रकार कैवल्यावस्थामें ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रह जाता है।

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा

(लेखक—आचार्य श्रीरामप्रतापजी शास्त्री)

'धर्म' संस्कृत-वाङ्मयका एक ऐसा शब्द है, जिसका यथार्थ पर्याय न अंग्रेजी भाषामें है और न विश्वकी किसी अन्य भाषामें। अतः अन्य भाषाओंमें धर्मके पर्यायरूपसे जो शब्द प्रचलित हैं, उनकी कल्पनाके आधारपर हम धर्मका अर्थ नहीं समझ सकते। धर्म शब्द 'धृ' धातुसे सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है धारण, पोषण करना। वैशेषिक-दर्शनके अनुसार धर्म वह है जिससे ऐहिक-पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि हो—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

परंतु यह परिभाषा धर्मके कार्यको बताती है, उसके स्वरूप और साधनको नहीं। धर्माचरण कारण है, अभ्युदय और निःश्रेयस उसके कार्य। धर्म शब्दके अर्थका निर्भ्रान्त-ज्ञान हमें महर्षि जैमिनिके ही अनुसार हो सकता है। उनके अनुसार विधि-निषेधात्मक वेद-वाक्योंद्वारा बोधित अर्थ ही धर्म है—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।

वेद धर्मकी जड़ है। वेदविद् लोगोंके लिये मन्वादि स्मृतियाँ धर्मका प्रमाण हैं। शील, आचार और साधुजनोंकी आत्मतुष्टि भी धर्मका प्रमाण है। श्रुति, स्मृतिमें कही बातोंका पालन करनेसे मनुष्य इस लोकमें कीर्ति और परलोकमें अपवर्गका उत्तम सुख पाता है। श्रुति माने वेद और स्मृति माने धर्मशास्त्र—इनमें कही बातोंके प्रतिकूल तर्क निषिद्ध है; क्योंकि इन्हीं दोनोंसे धर्मका उदय होता है।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥

किसी समय जब मनुष्योंने वेदों एवं तन्मूलक शास्त्रोंको अपनी आत्यन्तिक उन्नतिका आधार मानकर व्यष्टि जीवनसे लेकर समष्टि जीवनतककी प्रगतिका माप धर्मसे कर रक्खा था, तब मानव-जीवनके सर्वाङ्गोंमें सुन्दर सामञ्जस्यकी स्थापना, आत्माके लक्ष्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' स्वरूपकी प्राप्तिको ही मुख्य प्रयोजन मानकर विश्वमें मानव-जीवन सुख-शान्तिमय रूपमें सुप्रतिष्ठित एवं सुव्यवस्थित था और तभी विश्वकल्याणकी कामनासे ओतप्रोत होकर उसका उद्घोष था—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

सब सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभीकी अच्छी दृष्टि हो, कोई भी दुखी न हो। शास्त्रोंके आधारपर पशुतासे मानवताको उच्चतम स्थान प्राप्त करनेमें एक ही विशेष हेतु है—जिसे धर्म कहते हैं। मनुष्यके लिये धर्म

१. वेदान्तसार ३५। २. वेदान्तसार ३८।

ही सर्वस्व माना गया है और तभी वह ऐहिक-पारलौकिक समस्त निःश्रेयसकी प्राप्ति कर परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है, जब उसकी दृष्टिमें वेद-शास्त्रद्वारा निर्धारित स्वकर्म, स्वधर्मका पालन एवं रक्षण ही सर्वोच्च कर्त्तव्य हो।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

कोई समय था जब शासक यह घोषित करता था कि—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

अर्थात् 'मेरे राष्ट्रके अन्तर्गत चोर, मद्यप, कर्त्तव्य-पराङ्मुख, मूर्ख एवं व्यभिचारी पुरुष ही नहीं हैं तब भला व्यभिचारिणी स्त्रियाँ कहाँसे सम्भव हैं।' क्या यह सच्ची प्रगति नहीं है? यदि यह सच्ची प्रगति है तो इसे लानेके लिये कोरा विज्ञान एवं कोरी समाज-व्यवस्था सर्वथा अनुपयुक्त है।

भारतीय प्राचीन व्यवस्थाके संदर्भमें हम लिखितके आदर्शको कभी नहीं भूल सकते। शङ्ख और लिखित दो सहोदर भ्राता थे, मनीषी और यशस्वी थे। स्मृतियोंके प्रणेतारूपमें उनकी प्रख्याति थी। कभी लिखितने भ्रम-वश शङ्खके बगीचेसे एक फल तोड़कर खा लिया। दूसरोंकी वस्तु बिना उनकी स्वीकृतिके उपयोगमें लाना चोरी है, अपराध है; यह समझकर उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ और अपने भाई शङ्खसे सारी स्थिति बताकर उन्होंने दण्डकी याचना की। शङ्खने कहा—'दण्ड राजा दे सकता है; अतः राजाके पास जाओ।' उस समय राजा सुद्युम्न थे। उनके पास लिखित पहुँचे। राजा उनका स्वागत करनेके लिये उनसे कुछ दूर आकर मिले; पर लिखितने स्वयं अपनेको अपराधी घोषित किया और दण्डकी माँग की। राजाने बहुत ही समझाया; पर लिखितने स्पष्ट कहा—'राजा उपदेश देनेका अधिकारी नहीं; वह तो केवल दण्ड देनेका ही अधिकारी है। मैं अपराधी हूँ; मुझे दण्ड अवश्य दो।' बाध्य होकर राजाने यथाविधान लिखितका हाथ कटवा दिया। यह है प्राचीन भारतके अस्तेय-धर्म—चोरी न करनेकी पराकाष्ठा। यही सच्ची प्रगतिका शुभ लक्षण है। यम, नियम, तप आदि वैयक्तिक धर्मके पालनसे लिखितने अपनी प्रवृत्तिका ऐसा शोध कर रक्खा था कि स्वयं अपराधका समीक्षण कर और उसका उचित दण्ड प्राप्त करनेमें वे सोत्साह प्रवृत्त हुए। यहाँपर सच्ची मानवता निखर आती है। प्राचीन भारतके हृदयका यदि निष्पक्ष होकर समीक्षण किया जाय तो यही स्पष्ट होता है कि उस समय शरीरको क्षणभङ्गुर समझते हुए लोकैषणा, वित्तैषणा आदिको धर्मके सामने तुच्छ समझना ही मानवताका मेरुदण्ड था।

अस्तु! संसार धर्मपर प्रतिष्ठित है। धर्मसे ही मानव-जीवनकी सार्थकता है। अबतक यही माना गया है। परंतु अब कुछ दिनोंसे दुनियामें एक नयी लहर चली है। जहाँ धर्मको जीवनकी उन्नतिका परम साधन समझा जाता था, वहाँ अब कुछ लोग धर्मको अधःपतनका कारण बताने लग गये हैं। आजकल अधिकांश लोगोंका यह विचार बन गया है कि जैसे भी हो प्राचीन व्यवस्थाको नष्ट कर दिया जाय। इसके मूलमें उनका यही दृष्टिकोण है कि नयी समाज-व्यवस्था ही, जिसपर विज्ञान पूर्णरूपसे हावी है, सुख-शान्तिकी प्रतीक है। इसलिये जो कुछ प्राचीन है, वह चाहे धर्म हो, सभ्यता हो, उसे सदाके लिये समाप्त कर दिया जाय और उसके स्थानपर नये वैज्ञानिक युगको प्रतिष्ठित किया जाय, तभी प्रगति सम्भव है। परंतु मानव-जीवनके शाश्वत मूलकी खोज धर्मने ही की है, विज्ञानने नहीं। सत्य, न्याय, दया, परोपकार आदि जिन भावोंसे मनुष्य पशुओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है, वे उसके लिये धर्मकी ही देन हैं; विज्ञानने तो केवल भोग-सामग्री या संहारकारी अस्त्र-शस्त्र ही समर्पित किये हैं। भौतिकवादकी आँधीमें जीवनके आध्यात्मिक मूल्योंको नष्ट तो किया गया, पर नवकल्पित मूल्य उनका स्थान लेनेमें समर्थ न हुए। फलतः मानव-समाजमें एक शून्यता-सी आ गयी। वस्तुतः मानव-समाज सुख और शान्तिके लिये आज अन्धकारमें भटक रहा है। निःसंदेह वेद-शास्त्र-प्रतिपादित धर्मके ही यथाधिकार पालनसे मनुष्यको सुस्थिर सुख और शान्ति प्राप्त होगी।

आश्रमधर्मका रहस्य

(लेखक—श्रीदयाशंकरजी पाण्डेय 'हरीश' एम्० ए०, बी० एड०)

हमारे पूर्वजोंने मानवमात्रको शतायु होनेकी मङ्गल-कामना की है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत शतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अर्थात् हे नर ! कर्म करते हुए इस संसारमें सौ वर्ष-तक जीवित रहनेकी कामना करो । तुम्हारे लिये इससे अन्यथा कोई पथ नहीं है। कर्ममें लिप्त न होना पड़े—ऐसा कोई पथ नहीं है।

वस्तुतः यह संसार कर्म-प्रधान है। यहाँ प्रत्येक प्राणी कर्मके बन्धनमें बँधा हुआ है। व्यक्ति अपने संस्कारोंसे प्रेरित होकर जैसा अच्छा-बुरा कर्म करता है, उसके अनुरूप फल उसे भोगना ही पड़ता है। जीवनमें अनेक प्रकारके कर्म करके हम सब जो संस्काररूपी सम्पत्ति जोड़ते हैं, उसके बाद जैसे नींदसे उठकर हम फिर अपने कार्योंमें लग जाते हैं, उसी प्रकार मरणके बाद हमारे पूर्वजन्मके संस्कारोंकी पूँजी हमें फिर मिल जाती है। मृत्युका अर्थ है एक लंबी नींद। गीताके आठवें अध्यायमें भगवान्ने बतलाया है कि जो विचार मरते समय वर्तमान रहता है, वही अगले जन्ममें बलवत्तर सिद्ध होता है। इसी पाथेयको साथ लेकर जीव आगे यात्राके लिये निकलता है । जैसे नींदके बाद हम आज दिनकी कमाई लेकर कलका दिन आरम्भ करते हैं, उसी प्रकार इस जन्मकी जमापूँजी लेकर मरणरूपी नींदके बाद फिर हमारी यात्रा आरम्भ हो जाती है। अतः सिद्ध हुआ कि इस जन्मका जो अन्त है वही अगले जन्मका आरम्भ है। इस प्रकार हमारा वर्तमान जीवन हमारे पूर्वजीवनके साथ कर्मोंकी डोरसे बँधा हुआ है।

मनुष्यके इस कर्ममय जीवनको व्यवस्थित करने तथा उसके व्यक्तित्वको पूर्णता प्रदान करनेके लिये हमारे शास्त्रकारोंने आश्रम-व्यवस्थाका विधान किया है। दिन जिस प्रकार चार स्वाभाविक अंशों—पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न और सायाह्न—में विभक्त है, उसी प्रकार भारतीय मनीषियोंने समाजको चार वर्णोंमें बाँटकर और व्यक्तिके जीवनको चार आश्रमोंमें विभक्त कर हमारी संस्कृतिकी समन्वयवादिता, ज्ञानकी उपयोगिता तथा जीवनकी चरम सार्थकताका सुन्दर परिचय प्रस्तुत किया है।

ये विभाग वास्तवमें मानवकी शक्ति और उसके स्वभावको ही अनुसरण करके किये गये हैं। जिस प्रकार दिनमें आलोक और उत्तापकी क्रमशः वृद्धि और फिर क्रमशः ह्रास होता है, ठीक उसी प्रकार मनुष्यकी इन्द्रिय-शक्तिकी भी क्रमशः उन्नति तथा क्रमशः अवनति स्पष्ट परिलक्षित होती है । कविगुरु रवीन्द्रनाथ टाकुरके शब्दोंमें—'इस स्वाभाविक क्रमका अवलम्बन करके भारतवर्ष जीवनके आरम्भसे लेकर जीवनके अन्ततक एक अखण्ड तात्पर्यको वहन कर ले गया है। ब्रह्मचर्याश्रममें पहले विद्योपार्जन या शिक्षा, फिर गृहस्थाश्रममें संसार-लीला अर्थात् व्यक्तिगत सौख्यके साथ सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्योंका पालन, फिर वानप्रस्थ आश्रममें मायाके बन्धनोंको शिथिल करना तथा मनको प्रवृत्तिकी ओरसे निवृत्तिकी ओर मोड़ना और अन्तमें पूर्णतया निवृत्ति-मार्गका अवलम्बन कर अपनी आत्माके साथ मानवात्माका योग और विश्वात्मामें आत्मनिवेदन। इस प्रकार इस आश्रम-व्यवस्थाका उद्देश्य मानवजीवनमें श्रेय और प्रेयका समन्वय स्थापित कर उसे पूर्णत्व प्रदान करना है।'

भारतीय संस्कृतिमें मानवजीवनका चरम लक्ष्य पुरुषार्थ-चतुष्टयकी सिद्धि माना गया है और उपर्युक्त चारों आश्रम इन चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिमें सहायक अथवा सोपानरूप हैं । पुरुषार्थचतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षकी सिद्धिके लिये इनका समुचित ज्ञान अनिवार्य है। यह ज्ञान ही ब्रह्म है; अतः हमारे देशकी शिक्षा थी—ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म (ज्ञान) में संचरण करना। इसके लिये मनुष्यकी पूर्णायुके चौथाई अंशको विद्याध्ययन एवं ज्ञान-प्राप्तिके लिये निर्धारित किया गया था और अध्ययन-मननद्वारा ज्ञान-प्राप्तिकी इस निर्धारित अवधि या अवस्थाको ब्रह्मचर्याश्रमकी संज्ञा दी गयी थी।

ब्रह्मचर्याश्रम

ब्रह्मचर्याश्रमका आरम्भ उपनयन-संस्कारके साथ होता था। इस संस्कार-विधानके अनुसार बालकोंको एक निश्चित अवधितकके लिये योग्य एवं आदर्श आचार्योंके

संरक्षणमें भेज दिया जाता था। जहाँ उन्हें संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए विविध शास्त्रों तथा ज्ञानकी अनेकानेक शाखाओंके साथ जीवन और जगत्की पूर्ण जानकारी करायी जाती थी और अन्तमें भावी जीवनमें मनुष्यत्व लाभ कर संसारमें सुख-सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने तथा मानवोचित सद्वृत्तियोंद्वारा जनकल्याण करनेके लिये दीक्षा दी जाती थी।

इस ब्रह्मचर्याश्रमका विधान केवल द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) के लिये था। साधारणतः ब्राह्मण बालकका उपनयन आठवें वर्षमें, क्षत्रिय बालकका ग्यारहवें वर्षमें और वैश्य बालकका उपनयन बारहवें वर्षमें होता था। इन ब्रह्मचारियोंको आश्रमके कठोर नियमोंका पालन करना होता था। इस प्रकार पच्चीस वर्षतक कठोर ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन कर लेनेके बाद अन्तमें समावर्तन-संस्कार सम्पन्न कर ब्रह्मचारी घर लौट आता था और गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेका अधिकारी होता था। ऐसे ब्रह्मचारीको उपकुर्वाणक कहते थे।

संक्षेपमें ब्रह्मचर्य-पालन, विद्याध्ययन, व्यायाम एवं स्वास्थ्यसाधन तथा जीवनके लिये उपयोगी और अनिवार्य शिक्षा-दीक्षाके लिये मनुष्यजीवनकी यह प्रथम अवस्था उसके भविष्य जीवनके उत्कर्षकी विधायक होती थी। आयुके इस प्रथम भागमें ब्रह्मचर्य-पालनके द्वारा ब्रह्मचारीकी इच्छा-शक्तिको उसकी यथाविहित सीमामें सहज संचरण करनेका जो अभ्यास कराया जाता था, उसके फल-स्वरूप विश्व-प्रवृत्तिके साथ उसकी मानव प्रवृत्तिका सुर अनायास सुन्दर भावसे बँध जाता था। इस प्रकार सर्व-प्रथम ब्रह्मचर्याश्रमका यथोचित पालन कर लेनेके बाद ही व्यक्ति प्रवृत्ति-मार्गपर चलनेका अधिकारी माना जाता था।

गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम (संयम और शिक्षाकाल) पूरा करनेके बाद लोग संसार-धर्मके निमित्त गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते थे। इसके लिये शास्त्रका आदेश है—

ब्रह्मचर्यं समाप्याथ गृहधर्मं समाचरेत्।
ऋणत्रयविमुक्त्यर्थं धर्मेणोत्पादयेत् प्रजाम्॥

अर्थात् ब्रह्मचर्यके चौबीस वर्ष पूरे करनेके बाद युवावस्थामें गृहस्थ-धर्ममें प्रवेश कर देव, ऋषि तथा पितृ-ऋणसे मुक्त होनेके लिये धर्म-विधिसे सुसंतान उत्पन्न क[illegible]गा

इस गृहस्थाश्रमके तीन मुख्य प्रयोजन बतलाये गये हैं, यथा—१. संतान-प्राप्ति, २. रति-सुख-प्राप्ति, ३. धर्म-पालन। ये तीनों ही प्रयोजन धर्मपत्नीके बिना पूरे नहीं होते। अतः गृहस्थाश्रमके अभिलाषीको उत्तम गोत्रवाली सुलक्षणा कन्याके साथ विवाह करनेकी सलाह दी गयी है। विवाहके अवसरपर सप्तपदी-मन्त्रद्वारा वर और कन्यासे कहलाया जाता है कि हम दोनों आनन्दमय होनेके लिये प्रजा (संतान) के लिये तथा धर्मका पालन करनेके लिये पाणिग्रहण करते हैं। इस प्रकार यह गृहस्थाश्रम अनेक प्रयोजनोंको पूरा करनेके कारण चारों आश्रमोंमें सर्वोच्च माना गया है। बौधायनधर्म-सूत्रमें कहा गया है कि वास्तविक आश्रम केवल गृहस्थाश्रम है। गौतमने इसे अन्य सब आश्रमोंका मूल बतलाया है। विष्णु, वशिष्ठ, शंख तथा दक्ष आदि ऋषियोंने भी इस आश्रमकी श्रेष्ठता स्वीकार की है। महर्षि मनुने इसका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥

अर्थात् जिस प्रकार सब नदी-नद समुद्रमें जाकर आश्रय पाते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रमोंके लोग गृहस्थाश्रममें आश्रय पाते हैं।

वस्तुतः मानवके विकासमें गृह या परिवार पहली और सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई है। सही अर्थोंमें यह नागरिक जीवनकी पहली पाठशाला है और इसीकी नींवपर समाजका विशाल भवन खड़ा है। यहाँ हमें मातृत्वका चिरन्तन त्याग, पिताका अक्षय वात्सल्य, पुत्रकी कर्तव्य-निष्ठा, पुत्रीका सतत आत्मार्पण, पतिका अनुरक्त प्रेम और पुरुषके रूपमें उसका कठोर कर्तव्य, पत्नीका चिर साहचर्य एवं शुभाकांक्षा, भाईका स्नेह, भगिनीका सरल सौहार्द—सभी कुछ सहजभावसे सुलभ होता है।

संसारमें गृह ही वह स्थान है जहाँ मनुष्य अपने दुःखकी घड़ियोंमें वाञ्छित आश्वासन प्राप्त करता है। जीवनकी कष्ट-साध्य यात्रामें थके-प्यासे यात्रीके लिये गृह मरुभूमिमें मिलने-वाली हरियाली एवं जल-स्रोतके समान है। इस निरन्तर चलते रहनेवाले जीवनमें गृह वस्तुतः सुन्दर विश्रामस्थल है। साथ ही यह व्यक्ति और समाजका मिलन-स्थल भी है।

...से ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी तथा संन्यासी—सभी ...पोषण पाते हैं। इस प्रकार गृहस्थाश्रम सम्पूर्ण समाजका आधार होनेके कारण सभी आश्रमोंसे श्रेष्ठ है। गृहस्थाश्रम धन्य है—धन्यो गृहस्थाश्रमः।

चूँकि ब्रह्मचर्याश्रममें ब्रह्मचारीके मनकी इच्छा-शक्तिको उसकी यथाविहित सीमामें सहज संचरण करनेके निमित्त साधन कराया जाता था, अतः उसके फलस्वरूप गृहस्थाश्रमी अपने गृहस्थजीवनमें उस स्वरमें अपनी सामर्थ्य एवं इच्छाके अनुसार कोई भी रागिनी क्यों न बजावे, उससे सत्यके स्वरको, मङ्गलके स्वरको, आनन्दके स्वरको कहीं भी कोई आघात-व्याघात नहीं पहुँचता था।

संक्षेपमें गृहस्थाश्रम प्रेय और श्रेयका मिलन-स्थल है। गृहस्थाश्रमी इन दोनोंसे अपना मनोयोग कर पूर्णत्वकी ओर अग्रसर होता है। उपनिषदोंमें रति-सुखको परमानन्द अथवा ब्रह्मानन्द-सहोदर माना गया है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयंको धर्मके अविरुद्ध काम कहा है। मनु महाराज भी एक स्थानपर कहते हैं—

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः॥

विषयकी सेवा किये बिना वैसा संयम नहीं किया जा सकता जैसा विषयमें नियुक्त रहकर ज्ञानके द्वारा नित्यशः किया जा सकता है। अर्थात् विषयमें नियुक्त हुए बिना ज्ञान पूर्णता प्राप्त नहीं करता और जो संयम ज्ञानके द्वारा लब्ध नहीं है, वह पूर्ण संयम नहीं है। वह जड अभ्यास अथवा अनभिज्ञताका अन्तरालमात्र है। वह प्रकृतिके मूलगत नहीं बल्कि बाह्य है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम विषय अथवा प्रेयके द्वारा अन्तमें श्रेय अथवा मोक्षकी ओर जानेका एक मार्ग या सोपान है।

इस प्रकार गृहस्थाश्रम केवल सुखोपभोगके लिये नहीं है। बल्कि इसका एक प्रधान प्रयोजन धर्मपालन एवं संचयन भी है। गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते ही गृहस्थाश्रमीपर तीन ऋणोंका बोझ तथा पञ्चमहायज्ञोंका दायित्व अनायास आ पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक गृहस्थको नित्य, नैमित्तिक और काम्य—इन तीन प्रकारके कर्मोंको अनिवार्यरूपसे करनेका विधान बतलाया गया है—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यमिति कर्म त्रिधा मतम्।

(व्यासस्मृति)

इस विधानके अनुसार प्रत्येक गृहस्थको नित्य श्राद्ध आदि करके पितरोंको, यज्ञ आदिके द्वारा देवताओंको, धन, भोजन तथा आश्रय आदि देकर अतिथियोंको, स्वाध्यायके द्वारा ऋषियोंको, संतान उत्पन्न करके प्रजापतिको, अन्न-फल आदिकी आहुति देकर भूतादिको तथा दया, स्नेह आदि उदात्त भावोंके द्वारा सम्पूर्ण चराचर जगत्को सुखी और संतुष्ट करना चाहिये। प्रत्येक गृहस्थाश्रमीका कर्तव्य है कि वह भिक्षाभोगी, परिव्राजक, ब्रह्मचारी, पर्यटक तथा साधु-जनोंका स्वागत करे, उनसे मधुर वचन बोले, उन्हें आसन, जल-भोजन तथा शय्या देकर संतुष्ट करे; किसी प्रकारसे भी उनका अपमान अथवा अहित न करे। धर्मानुकूल आचरण करते हुए जीविकोपार्जन करे और धर्मानुकूल रति-सुख तथा संतान-सुख भोगते हुए परिवार तथा परिवारके बाहरके लोगोंका पालन करे। इतना महान् दायित्व होनेके कारण ही गृहस्थाश्रमको सब आश्रमोंसे श्रेष्ठ बतलाया गया है।

वानप्रस्थ-आश्रम

वानप्रस्थका अर्थ है गृह छोड़कर वनके लिये निकल पड़ना। ५० वर्षकी अवस्थातक अपनी गृहस्थी भली प्रकार जमा लेने तथा अपनी संतानोंको शास्त्रानुकूल दे लेनेके बाद उनका विधिवत् विवाह कर और उन्हें भली प्रकार गृहस्थाश्रममें प्रतिष्ठितकर, अन्तमें अपनी गृहस्थीका भार उन्हें पूरी तौरपर सौंप और स्वयं पारिवारिक झंझटोंसे निवृत्त होकर, अपनी पत्नीको पुत्रोंके सहारे छोड़कर अथवा साथमें रखकर, घरसे निकल पड़ना और नगरके बाहर एकान्त निवास करना वानप्रस्थीकी चर्या होनी चाहिये। मनुके अनुसार पौत्रका मुँह देख लेनेपर इस तीसरे आश्रममें प्रवेश करना चाहिये।

इस प्रकार आयुके द्वितीय भागको संसार-धर्ममें लगानेके बाद शरीरका तेज जब ह्रास होने लगे तब गृहस्थाश्रमीको यह अनुभव करना चाहिये कि इस क्षेत्रमें उसके कार्य-व्यापारकी समाप्तिका संवाद आ गया, किंतु हमारा सब कुछ गया—ऐसा मानकर हमें इसे अनुशोचनाका कारण नहीं बनाना है; बल्कि इस सत्यका अनुभव कर कि अब इससे और भी बड़ी परिधि तथा और भी बड़े दायित्वोंके क्षेत्रमें प्रवेश करना है, हमारे पूर्वज बड़े संतोष, विश्वास और प्रसन्नताके साथ जीवनकी तीसरी अवस्थामें इस मार्गकी ओर अभिमुख होते थे।

इस तीसरी अवस्थामें पहुँचकर इस सत्यकी अनुभूति

होनी चाहिये कि जो क्षेत्र दैहिक बलका था, इन्द्रियशक्ति और प्रवृत्ति-संचालनका था, वह पीछे दूर गया अथवा उसका कार्य समाप्त हो गया; वहाँ जो कुछ फसल बोया और पैदा किया, उसे काटकर खलिहान कर खत्तीमें भरकर रख दिया, अतः अब निश्चिन्त हो जानेका समय है। अब जीवनकी संध्या आ पहुँची, अतः अब गृहस्थजीवनकी, सांसारिक प्रपञ्चोंकी चहारदीवारी छोड़कर धर्मके राजमार्गपर चलना है—ऐसा विचारकर हमारे पूर्वज प्रसन्नतापूर्वक अपना कमाया हुआ धन-जन सब कुछ त्यागकर अपने ही हाथों बनाये घरसे खाली हाथ अकेले अथवा केवल अपनी अर्धाङ्गिनीको साथ लेकर वनपथकी ओर निकल पड़ते थे।

नगरके कोलाहलसे दूर एकान्त सेवन करते हुए तथा इस आश्रमके लिये निर्धारित कठोर नियमोंका सतर्कतासे पालन करते हुए वह विचार करते थे कि उनका वास्तविक घर तो कहीं और है, जहाँ पहुँचे विना वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकती। वे इस सत्यका अनुभव करते थे कि यहाँ अबतक जो कुछ सुख-दुःख सहा, जो कुछ मिहनत-मजदूरी की, आखिर किस लिये ? घरके लिये ही तो ? और यह घर ही भूमा है, यह घर परमानन्दका निवासस्थल है। उसी परमानन्दसे हमारी उत्पत्ति हुई है और वही हमारा एकमात्र विश्रामस्थल है। इस प्रकार गृहस्थाश्रमके सम्पूर्ण दायित्व पूर्णकर और गृह-संसारका समस्त भार पुत्रोंको समर्पित कर भारतीय आर्य इस तीसरी अवस्था (वानप्रस्थ आश्रम) में उस एकमात्र राजमार्ग अथवा ईश्वरके मार्गपर चलनेकी तैयारी करते थे जो हमारा एकमात्र गन्तव्य और हमारे जीवनका चरम लक्ष्य है। इस प्रकार बाहरकी खुली हवामें जाकर मुक्त आकाशके आलोकमें आत्मदृष्टिको अन्तर्मुखकर और आत्मशरीरके समस्त रोमकूपोंको प्रज्वलित कर उस प्रभुकी, उसके घरकी खोज करते थे। इस प्रकार इस संसारका नाटक खेल चुकनेके बाद, उसका पटाक्षेपकर, प्रसूतिगृहकी नाड़ीको सही अर्थमें काटकर और सब प्रकारसे बन्धनमुक्त होकर आर्यजन एक नये जगत्में स्वाधीन संचरणका अधिकार प्राप्त करते थे।

कवीन्द्र रवीन्द्रके शब्दोंमें—'जिस प्रकार शिशु माताके गर्भसे जन्म लेकर पृथ्वीपर आनेके बाद भी, सम्पूर्ण स्वाधीन होनेके पूर्व कुछ समयतक माँके पास ही रहता है। वियुक्त होकर भी युक्त रहता है और सम्पूर्ण वियुक्त होनेके लिये प्रस्तुत होता है, उसी प्रकार संसारके गर्भसे निष्क्रान्त होनेपर भी बाहरकी ओरसे संसारके साथ इस तृतीय आश्रमधारीका भोग रहता है। बाहरकी ओरसे वह संसारको अपने जीवनमें संचित ज्ञानका फलदान करता है और संसारसे स्वयं भी सहायता लेता है; किंतु यह दान वह संसारीकी तरह एकान्तरूपसे नहीं लेता, मुक्तरूपसे ही ग्रहण करता है।'

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें वर्णाश्रम-चर्याकी व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'जो गृहस्थ वानप्रस्थी होना चाहे वह अपनी पत्नीको समर्थ पुत्रोंके हाथमें सौंपकर अथवा अपने साथ ही रखकर शान्त एवं संयमित भावसे अपनी आयुका तीसरा भाग वनवासमें व्यतीत करे। वहाँ विशुद्ध कंदमूल तथा वनके फल खाकर रहे, मूँछ-दाढ़ी और जटा बढ़ाये रहे, धरतीपर शयन करे; अपने पास आये अतिथियोंका सत्कार करे, मृगचर्म तथा कुशासनका प्रयोग करे, तीनों काल संध्यावन्दन तथा देवताओंका अर्चन करे, हवन तथा यज्ञ करे और निरन्तर ज्ञानकी साधना करते हुए तपस्या एवं तितिक्षा (भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख) सहन करनेकी शक्ति प्राप्त करे।'

इस प्रकार वास्तविक वानप्रस्थी वही है जो परिवारकी मर्यादित आसक्ति त्यागकर सम्पूर्ण मानव-समाजकी सेवामें जुट जाय; किंतु यह दुःख और दुर्भाग्यका ही विषय है कि आज हमारे समाजमें सही अर्थमें कोई भी वानप्रस्थी नहीं है। समाजमें अज्ञान तथा भौतिकवादकी कुछ ऐसी हवा चल पड़ी है कि लोग मरते दमतक न तो पुत्र-कलत्र और धनका मोह त्याग पाते हैं और न उन्हें अपने वास्तविक घरकी ही अनुभूति हो पाती है।

संन्यास-आश्रम

वानप्रस्थ-आश्रममें तप तथा ईश्वर-चिन्तनमें मन सध जानेपर आयुके चतुर्थ और अन्तिम भागमें एक दिन ऐसा आता है, जब प्राणीको संसारके शेष बन्धनोंको भी त्यागकर एकाकी ही उस परम एकके सम्मुखीन होना पड़ता है। तब निर्मल मन तथा मङ्गल कर्मोंके द्वारा संसारके समस्त बन्धनोंका पूर्ण परित्याग कर उस एकमात्र आनन्दरूपके साथ चिरन्तन सम्बन्ध प्राप्त करनेके लिये प्रस्तुत हो जानेका अवसर आ गया—ऐसा अनुभव होना चाहिये।

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री दिनभर घर-संसारके नाना लोगोंके साथ नाना सम्बन्धोंका पालन करती हुई, नाना कर्मव्यापार कर लेनेके बाद अन्तमें केवल पतिदेवका ही कार्य

[..]से ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी तथा संन्यासी—सभी [..]षण पाते हैं। इस प्रकार गृहस्थाश्रम सम्पूर्ण समाजका आधार होनेके कारण सभी आश्रमोंसे श्रेष्ठ है। गृहस्थाश्रम धन्य है—धन्यो गृहस्थाश्रमः।

चूँकि ब्रह्मचर्याश्रममें ब्रह्मचारीके मनकी इच्छा-शक्तिको उसकी यथाविहित सीमामें सहज संचरण करनेके निमित्त साधन कराया जाता था, अतः उसके फलस्वरूप गृहस्थाश्रमी अपने गृहस्थजीवनमें उस स्वरमें अपनी सामर्थ्य एवं इच्छाके अनुसार कोई भी रागिनी क्यों न बजावे, उससे सत्यके स्वरको, मङ्गलके स्वरको, आनन्दके स्वरको कहीं भी कोई आघात-व्याघात नहीं पहुँचता था।

संक्षेपमें गृहस्थाश्रम प्रेय और श्रेयका मिलन-स्थल है। गृहस्थाश्रमी इन दोनोंसे अपना मनोयोग कर पूर्णत्वकी ओर अग्रसर होता है। उपनिषदोंमें रति-सुखको परमानन्द अथवा ब्रह्मानन्द-सहोदर माना गया है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयंको धर्मके अविरुद्ध काम कहा है। मनु महाराज भी एक स्थानपर कहते हैं—

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः॥

विषयकी सेवा किये बिना वैसा संयम नहीं किया जा सकता जैसा विषयमें नियुक्त रहकर ज्ञानके द्वारा नित्यशः किया जा सकता है। अर्थात् विषयमें नियुक्त हुए बिना ज्ञान पूर्णता प्राप्त नहीं करता और जो संयम ज्ञानके द्वारा लब्ध नहीं है, वह पूर्ण संयम नहीं है। वह जड अभ्यास अथवा अनभिज्ञताका अन्तरालमात्र है। वह प्रकृतिके मूलगत नहीं बल्कि बाह्य है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम विषय अथवा प्रेयके द्वारा अन्तमें श्रेय अथवा मोक्षकी ओर जानेका एक मार्ग या सोपान है।

इस प्रकार गृहस्थाश्रम केवल सुखोपभोगके लिये नहीं है। बल्कि इसका एक प्रधान प्रयोजन धर्मपालन एवं संचयन भी है। गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते ही गृहस्थाश्रमीपर तीन ऋणोंका बोझ तथा पञ्चमहायज्ञोंका दायित्व अनायास आ पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक गृहस्थको नित्य, नैमित्तिक और काम्य—इन तीन प्रकारके कर्मोंको अनिवार्यरूपसे करनेका विधान बतलाया गया है—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यमिति कर्म त्रिधा मतम्।

(व्यासस्मृति)

इस विधानके अनुसार प्रत्येक गृहस्थको नित्य श्राद्ध आदि करके पितरोंको, यज्ञ आदिके द्वारा देवताओंको, धन, भोजन तथा आश्रय आदि देकर अतिथियोंको, स्वाध्यायके द्वारा ऋषियोंको, संतान उत्पन्न करके प्रजापतिको, अन्न-फल आदिकी आहुति देकर भूतादिको तथा दया, स्नेह आदि उदात्त भावोंके द्वारा सम्पूर्ण चराचर जगत्को सुखी और संतुष्ट करना चाहिये। प्रत्येक गृहस्थाश्रमीका कर्तव्य है कि वह भिक्षाभोगी, परिव्राजक, ब्रह्मचारी, पर्यटक तथा साधु-जनोंका स्वागत करे, उनसे मधुर वचन बोले, उन्हें आसन, जल-भोजन तथा शय्या देकर संतुष्ट करे; किसी प्रकारसे भी उनका अपमान अथवा अहित न करे। धर्मानुकूल आचरण करते हुए जीविकोपार्जन करे और धर्मानुकूल रति-सुख तथा संतान-सुख भोगते हुए परिवार तथा परिवारके बाहरके लोगोंका पालन करे। इतना महान् दायित्व होनेके कारण ही गृहस्थाश्रमको सब आश्रमोंसे श्रेष्ठ बतलाया गया है।

वानप्रस्थ-आश्रम

वानप्रस्थका अर्थ है गृह छोड़कर वनके लिये निकल पड़ना। ५० वर्षकी अवस्थातक अपनी गृहस्थी भली प्रकार जमा लेने तथा अपनी संतानोंको शास्त्रानुकूल दे लेनेके बाद उनका विधिवत् विवाह कर और उन्हें भली प्रकार गृहस्थाश्रममें प्रतिष्ठितकर, अन्तमें अपनी गृहस्थीका भार उन्हें पूरी तौरपर सौंप और स्वयं पारिवारिक झंझटोंसे निवृत्त होकर, अपनी पत्नीको पुत्रोंके सहारे छोड़कर अथवा साथमें रखकर, घरसे निकल पड़ना और नगरके बाहर एकान्त निवास करना वानप्रस्थीकी चर्या होनी चाहिये। मनुके अनुसार पौत्रका मुँह देख लेनेपर इस तीसरे आश्रममें प्रवेश करना चाहिये।

इस प्रकार आयुके द्वितीय भागको संसार-धर्ममें लगानेके बाद शरीरका तेज जब ह्रास होने लगे तब गृहस्थाश्रमीको यह अनुभव करना चाहिये कि इस क्षेत्रमें उसके कार्य-व्यापार-की समाप्तिका संवाद आ गया, किंतु हमारा सब कुछ गया—ऐसा मानकर हमें इसे अनुशोचनाका कारण नहीं बनाना है; बल्कि इस सत्यका अनुभव कर कि अब इससे और भी बड़ी परिधि तथा और भी बड़े दायित्वोंके क्षेत्रमें प्रवेश करना है, हमारे पूर्वज बड़े संतोष, विश्वास और प्रसन्नताके साथ जीवनकी तीसरी अवस्थामें इस मार्गकी ओर अभिमुख होते थे।

इस तीसरी अवस्थामें पहुँचकर इस सत्यकी अनुभूति

होनी चाहिये कि जो क्षेत्र दैहिक बलका था, इन्द्रियशक्ति और प्रवृत्ति-संचालनका था, वह पीछे दूर गया अथवा उसका कार्य समाप्त हो गया; वहाँ जो कुछ फसल बोया और पैदा किया, उसे काटकर खलिहान कर खत्तीमें भरकर रख दिया, अतः अब निश्चिन्त हो जानेका समय है। अब जीवनकी संध्या आ पहुँची, अतः अब गृहस्थजीवनकी, सांसारिक प्रपञ्चोंकी चहारदीवारी छोड़कर धर्मके राजमार्गपर चलना है—ऐसा विचारकर हमारे पूर्वज प्रसन्नतापूर्वक अपना कमाया हुआ धन-जन सब कुछ त्यागकर अपने ही हाथों बनाये घरसे खाली हाथ अकेले अथवा केवल अपनी अर्धाङ्गिनीको साथ लेकर वनपथकी ओर निकल पड़ते थे।

नगरके कोलाहलसे दूर एकान्त सेवन करते हुए तथा इस आश्रमके लिये निर्धारित कठोर नियमोंका सतर्कतासे पालन करते हुए वह विचार करते थे कि उनका वास्तविक घर तो कहीं और है, जहाँ पहुँचे बिना वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकती। वे इस सत्यका अनुभव करते थे कि यहाँ अबतक जो कुछ सुख-दुःख सहा, जो कुछ मिहनत-मजदूरी की, आखिर किस लिये? घरके लिये ही तो? और यह घर ही भूमा है, यह घर परमानन्दका निवासस्थल है। उसी परमानन्दसे हमारी उत्पत्ति हुई है और वही हमारा एकमात्र विश्रामस्थल है। इस प्रकार गृहस्थाश्रमके सम्पूर्ण दायित्व पूर्णकर और गृह-संसारका समस्त भार पुत्रोंको समर्पित कर भारतीय आर्य इस तीसरी अवस्था (वानप्रस्थ आश्रम) में उस एकमात्र राजमार्ग अथवा ईश्वरके मार्गपर चलनेकी तैयारी करते थे जो हमारा एकमात्र गन्तव्य और हमारे जीवनका चरम लक्ष्य है। इस प्रकार बाहरकी खुली हवामें जाकर मुक्त आकाशके आलोकमें आत्मदृष्टिको अन्तर्मुखकर और आत्मशरीरके समस्त रोमकूपोंको प्रज्वलित कर उस प्रभुकी; उसके घरकी खोज करते थे। इस प्रकार इस संसार-का नाटक खेल चुकनेके बाद, उसका पटाक्षेपकर, प्रसूति-गृहकी नाड़ीको सही अर्थमें काटकर और सब प्रकारसे बन्धन-मुक्त होकर आर्यजन एक नये जगत्में स्वाधीन संचरणका अधिकार प्राप्त करते थे।

कवीन्द्र रवीन्द्रके शब्दोंमें—'जिस प्रकार शिशु माताके गर्भसे जन्म लेकर पृथ्वीपर आनेके बाद भी, सम्पूर्ण स्वाधीन होनेके पूर्व कुछ समयतक माँके पास ही रहता है। वियुक्त होकर भी युक्त रहता है और सम्पूर्ण वियुक्त होनेके लिये प्रस्तुत होता है, उसी प्रकार संसारके गर्भसे निष्क्रान्त होनेपर भी बाहरकी ओरसे संसारके साथ इस तृतीय आश्रमधारीका भोग रहता है। बाहरकी ओरसे वह संसारको अपने जीवनमें संचित ज्ञानका फलदान करता है और संसारसे स्वयं भी सहायता लेता है; किंतु यह दान वह संसारीकी तरह एकान्तरूपसे नहीं लेता, मुक्तरूपसे ही ग्रहण करता है।'

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें वर्णाश्रम-चर्याकी व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'जो गृहस्थ वानप्रस्थी होना चाहे वह अपनी पत्नीको समर्थ पुत्रोंके हाथमें सौंपकर अथवा अपने साथ ही रखकर शान्त एवं संयमित भावसे अपनी आयुका तीसरा भाग वनवासमें व्यतीत करे। वहाँ विशुद्ध कंदमूल तथा वनके फल खाकर रहे, मूँछ-दाढ़ी और जटा बढ़ाये रहे, धरतीपर शयन करे; अपने पास आये अतिथियोंका सत्कार करे, मृगचर्म तथा कुशासनका प्रयोग करे, तीनों काल संध्यावन्दन तथा देवताओंका अर्चन करे, हवन तथा यज्ञ करे और निरन्तर ज्ञानकी साधना करते हुए तपस्या एवं तितिक्षा (भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख) सहन करनेकी शक्ति प्राप्त करे।'

इस प्रकार वास्तविक वानप्रस्थी वही है जो परिवारकी मर्यादित आसक्ति त्यागकर सम्पूर्ण मानव-समाजकी सेवामें जुट जाय; किंतु यह दुःख और दुर्भाग्यका ही विषय है कि आज हमारे समाजमें सही अर्थमें कोई भी वानप्रस्थी नहीं है। समाजमें अज्ञान तथा भौतिकवादकी कुछ ऐसी हवा चल पड़ी है कि लोग मरते दमतक न तो पुत्र-कलत्र और धनका मोह त्याग पाते हैं और न उन्हें अपने वास्तविक घरकी ही अनुभूति हो पाती है।

संन्यास-आश्रम

वानप्रस्थ-आश्रममें तप तथा ईश्वर-चिन्तनमें मन सध जानेपर आयुके चतुर्थ और अन्तिम भागमें एक दिन ऐसा आता है, जब प्राणीको संसारके शेष बन्धनोंको भी त्यागकर एकाकी ही उस परम एकके सम्मुखीन होना पड़ता है। तब निर्मल मन तथा मङ्गल कर्मोंके द्वारा संसारके समस्त बन्धनोंका पूर्ण परित्याग कर उस एकमात्र आनन्दरूपके साथ चिरन्तन सम्बन्ध प्राप्त करनेके लिये प्रस्तुत हो जानेका अवसर आ गया—ऐसा अनुभव होना चाहिये।

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री दिनभर घर-संसारके नाना लोगोंके साथ नाना सम्बन्धोंका पालन करती हुई, नाना कर्म-व्यापार कर लेनेके बाद अन्तमें केवल पतिदेवका ही कार्य

करती है; अपने पतिके ही सम्बन्धको एकान्तभावसे स्वीकार करती है; दिन समात हो जानेपर कामकी चीजें उठाकर, नहा-धोकर, कपड़े बदलकर, कर्मक्षेत्रके चिह्नोंको पोंछकर, निर्मल वेशमें एकाकिनी एकमात्र पतिके साथ पूर्ण सम्बन्धका अधिकार ग्रहण करनेके लिये एकान्त कक्षमें प्रवेश करती है, ठीक उसी प्रकार समात-कर्म पुरुष भी अपनी आयुके इस चौथे और अन्तिम भागमें कर्म-जीवनकी समस्त खण्डताओंको मिटाकर उस असीमके साथ मिलनेके लिये प्रस्तुत होकर अन्तमें एकाकी ही उस एक (परमात्मा) के सम्मुख जा खड़ा होता है और अपने सम्पूर्ण जीवनको इस परिपूर्ण समातिमें अखण्ड सार्थकता दान करता है ।

जीवनकी तीसरी अवस्था व्यतीत हो जानेपर वानप्रस्थीको चाहिये कि वह अपनी पत्नीसे भी अपना सम्बन्ध तोड़ ले और आहवनीय अग्नियोंको अपनेमें लीनकर संन्यास ग्रहण कर ले । संन्यासकी महिमा बतलाते हुए संत विनोवा लिखते हैं—'मानवीय बुद्धिने, मानवीय विचारने अबतक जो ऊँची उड़ानें मारी हैं, उन सबमें ऊँची उड़ान संन्यासतक पहुँची है । इसके आगे अभीतक कोई उड़ान नहीं मार सका । संन्यासकी व्याख्या है—सब कर्मोंको छोड़ना । संन्यासी सभी कर्मोंका त्याग कर देता है; किंतु उसके भीतर सम्पूर्ण संसारको कर्ममें प्रवृत्त करनेकी अपूर्व और प्रचण्ड प्रेरक-शक्ति होती है, ठीक जिस प्रकार भाप अवरोध पाकर प्रचण्ड कार्य करती है, जैसे सूर्य कुछ न करके भी अनन्त उपकार कार्य करता है ।'

प्राचीनकालमें सिर मुड़ाकर गेरुआ वस्त्र धारण कर तथा दण्ड-कमण्डलु लेकर संन्यास-धर्मकी दीक्षा ली जाती थी । भारतीय समाजमें संन्यासीके लिये यह विधान था कि वह केवल एक लँगोटी धारण करे और शीतसे बचनेके लिये यदि ऊपरसे कुछ ओढ़ना चाहे तो केवल उतना ही वस्त्र ओढ़े जिससे नीचेका शरीर ढका रहे । संन्यासीको आपत्कालके अतिरिक्त सर्वदा केवल दण्ड-कमण्डलु ही पास रखना चाहिये और कुछ भी नहीं; क्योंकि वह संन्यास लेते समय सर्वस्व त्याग चुकता है । संन्यासीका यह भी कर्तव्य था कि वह सब प्रकारका लोभ, मोह, मद, मत्सर तथा सभी सांसारिक प्रपञ्चोंका त्याग कर प्राणिमात्रके साथ मित्र-भाव रक्खे । मन, वचन तथा कर्मसे किसी प्राणीका अनिष्ट न करे । इस प्रकार मानवमात्रका कल्याण-साधन करता हुआ निर्भय एवं निःस्पृह भावसे सम्पूर्ण पृथ्वीपर विचरण करे तथा ईश्वराराधन एवं योग-साधनद्वारा मोक्ष-प्राप्तिके लिये यत्नशील हो ।

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें ही भगवान् श्रीकृष्ण संन्यासधर्मकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—'संन्यासीको चारों वर्णोंमें भिक्षा माँगनेका अधिकार है, किंतु पतित, हत्यारे तथा जातिच्युत लोगोंके यहाँ भिक्षा लेना निषिद्ध है । जब गृहस्थके घरके चूल्हे ठंडे हो जायँ, तब बस्तीमें जाकर केवल शरीरका पोषण करनेके लिये अनिश्चित सात घरोंसे भिक्षा माँगना और उनमें जो कुछ मिले, उतनेसे ही संतुष्ट रहना चाहिये । भिक्षा कर चुकनेपर गाँवके बाहर एकान्तमें किसी जलाशयके किनारे जाकर, पहले उस स्थानपर जल छिड़ककर उसे पवित्र करना चाहिये । फिर अपने हाथ-पैर धोकर कुल्ला करके मौन भावसे अन्न खाना चाहिये । आगेके लिये बचाकर नहीं रखना चाहिये । भोजन करनेके अवसरपर यदि कोई प्राणी आकर भोजन माँग बैठे तो उसे बाँटकर भोजन करना चाहिये । संन्यासीको पाँच रातसे अधिक एक स्थानपर नहीं रहना चाहिये । संगहीन, जितेन्द्रिय, आत्माराम, आत्मलीन, धीर और समदर्शी होकर उसे अकेले इच्छानुसार पृथ्वीका पर्यटन करना चाहिये । संन्यासीको चाहिये कि वह निर्जन और निर्भय स्थानमें बैठकर विशुद्ध भक्तिसे निर्मल होकर रहे । हृदयमें ईश्वरको अपने (आत्मा) से अभिन्न देखे और विचारे । इस प्रकार संन्यासीको सदा-सर्वदा ज्ञाननिष्ठ होकर आत्माके बन्धन और मोक्षका विचार करना चाहिये ।'

संन्यासियोंके अनेक भेद अथवा कोटियाँ हैं । यथा त्रिदण्डी, अवधूत, हंस, परमहंस आदि । विष्णु-स्मृतिमें मुख्यरूपसे चार प्रकारके संन्यासी बतलाये गये हैं—

चतुर्विधा भिक्षुकाः स्युः कुटीचकबहूदकौ ।
हंसः परमहंसश्च पश्चाद् यो यः स उत्तमः ॥

अर्थात् संन्यासी मुख्यतः चार प्रकारके होते हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस तथा परमहंस । इनमें क्रमशः एक दूसरेसे उत्तम हैं । मौनरूप वाणीका दण्ड अर्थात् दमन और अनीहा (काम्य-कर्मत्याग) रूप शरीरका दण्ड एवं प्राणायामरूप मनका दण्ड धारण करनेके कारण संन्यासी त्रिदण्डी कहलाता है । केवल दिखानेके लिये बाँसके दण्ड लिये रहनेसे कोई त्रिदण्डी नहीं होता । जिसने काम-क्रोधरूप छः शत्रुओंके दलको शान्त नहीं किया, जिसके बुद्धिरूप सारथिको प्रचण्ड इन्द्रियरूप घोड़े इधर-उधर घसीटते फिरते हैं, जिसके हृदयमें ज्ञान-विज्ञानका लेश भी नहीं है ऐसा जो

मनुष्य केवल जीविकाके लिये दण्ड-कमण्डलु लेकर संन्यासीके वेशमें पेट पालता फिरता है, वह पतित एवं धर्मघातक है। उसका मनोरथ पूर्ण नहीं होता। वह अपने आपको, इस संसारको तथा सर्वान्तर्यामी भगवान्‌को ठगता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस आश्रम-व्यवस्थाका उद्देश्य मनुष्यके जीवनके लिये वाञ्छित श्रेय और प्रेयमें समन्वय एवं सामञ्जस्य स्थापितकर उसे पूर्णत्व प्रदान करना है। हमारी संस्कृतिमें मानव-जीवनके जिस मुख्य लक्ष्य—सुख और शान्तिका निर्देश किया गया है और जिसकी उपलब्धिके लिये पुरुषार्थ-चतुष्टयकी साधनापर बल दिया गया है, उसकी सिद्धिके लिये आश्रम-व्यवस्था सहायक सोपानस्वरूप है—इसमें संदेहकी जरा भी गुंजाइश नहीं।

हममें परिवर्तन क्यों नहीं होता ?

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

[नवम्बर १९६३ के अङ्कसे आगे]

'माँ इतने दिन हो गये। मुझे तेरे दर्शन नहीं हुए! क्या करूँगा ऐसे अधम शरीरको जीवित रखकर!'

यह कहकर उसने मन्दिरमें लटकती तलवार उतार ली। उससे वह अपनी गर्दन उड़ाने जा ही रहा था कि कहते हैं कि माँ कालीने प्रकट होकर उसका हाथ पकड़ लिया।

रामकृष्ण परमहंसकी यह तीव्रता ही उनकी साधनाका मूल आधार थी।

× × ×

छतपर एक युवतीको नग्न देखकर उसका मन डोल गया! छिः छिः यह क्या! मनकी यह लंतरानी! अब या तो मैं मरूँगा या मनको मारूँगा!

'मरूँगा या मनको मारूँगा'—हृदयपरिवर्तनकी इस तीव्रताने ही तीर्थरामको 'रामतीर्थ' बना दिया।

× × ×

वासनाके झकोरोंको उसने कई-कई बार पलक मारते निष्फल बना दिया था।

युवतियाँ प्रयत्न करके भी उसे डिगा नहीं सकी थीं। पर, एक दिन भोजन बनाते समय उसका चित्त प्रयत्न करनेपर भी वशमें नहीं आ रहा था। विवेक उसका साथ नहीं दे रहा था।

वह बार-बार चेष्टा करता, पर मन बार-बार उसे पछाड़नेका प्रयत्न करता।

'नहीं मानता तो ले!'—यों कहकर जलते तवेपर बैठ ही तो गया वह।

भारी-भारी फफोले पड़ गये। कई महीने दवा चली। पर कामवासनाको विवेकानन्दने परास्त करके ही दम ली।

किसीने लिखा कि 'आप इतने दिनोंसे ब्रह्मचर्यकी तीव्र साधना कर रहे हैं, फिर भी आपको कभी-कभी गंदे स्वप्न आ जाते हैं तो हम-जैसोंके लिये क्या आशा?'

गांधीने जवाब दिया—संसारके लिये इतना जानना ही क्यों यथेष्ट नहीं कि मैं सच्चा शोधक हूँ, पूर्ण जाग्रत् हूँ, सतत प्रयत्नशील हूँ और विघ्न-बाधाओंसे डरता नहीं? ऐसी दलील ही क्यों दी जाय कि मेरे-समान व्यक्ति जब बुरे विचारोंसे न बच सका तो दूसरोंके लिये कोई आशा ही नहीं है? ऐसा क्यों न सोचा जाय कि वह गांधी जो एक समय कामवासनामें डूबा हुआ था, आज यदि अपनी पत्नीके साथ भाई या मित्रके समान रह सकता है और संसारकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियोंको भी बहिन या बेटीके रूपमें देख सकता है, तो नीच-से-नीच और पतित व्यक्तिके लिये भी उठनेकी आशा है। यदि ईश्वरने इतने विकारोंसे भरे हुए व्यक्तिपर दया दिखायी तो निश्चय ही वह दूसरोंपर भी दया दिखायेगा ही।

× × ×

परिवर्तनके लिये आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य शर्त है—

तीव्रता। अपनी गलत आदतोंको, गलत वासनाओंको पूरी लगनसे सुधारनेकी तीव्रता।

'मैं प्राणपणसे अपनेको सुधारूँगा, अपनेको सन्मार्गपर ले चलूँगा, अपने निश्चयमें रत्तीभर भी ढिलाई बर्दाश्त नहीं करूँगा'—ऐसी लगन जब हमारे भीतर रात-दिन, आठ पहर चौंसठ घड़ी लगी रहे—तो कौन है ऐसा जिसमें परिवर्तन नहीं हो सकता ?

काम हो या क्रोध, लोभ हो या मोह, मद हो या मत्सर, कोई भी विकार केवल तभीतक हमपर हावी रहता है, केवल तभीतक हमें नचाता है, जबतक हममें उसे परास्त करनेकी तीव्रता नहीं है।

सूरदासने अपनी आँखें फोड़ लीं। क्यों ? उसमें तीव्रता थी अपना परिवर्तन करनेकी। चम्बल-क्षेत्रके २० डाकुओंने बंदूकें फेंक दीं और अपने अपराधोंका दण्ड भोगनेके लिये जेल जाना स्वीकार कर लिया। क्यों ? उनमें तीव्रता थी अपना परिवर्तन करनेकी। गांधीने बैरिस्टरीपर लात मार दी। क्यों ? उनमें तीव्रता थी सत्यपर चलनेकी, अपना परिवर्तन करनेकी।

संसारके किसी भी महापुरुषका, किसी भी संतका जीवन उठाकर देखिये, उसमें पग-पगपर इस बातके उदाहरण मिलेंगे कि उनके जीवनमें तीव्रता-ही-तीव्रता भरी है। वे जिस आदर्शतक पहुँचनेका निश्चय कर लेते हैं, उस आदर्शको पानेके लिये कोई भी बात उठा नहीं रखते। जरा भी रियायत नहीं, जरा भी ढुलमुलपना नहीं।

× × ×

साफ है कि हममें कोई परिवर्तन इसीलिये नहीं होता कि या तो हम अपनेमें कोई परिवर्तन करना नहीं चाहते, या हम यह मान बैठे हैं कि हममें कोई परिवर्तन हो ही नहीं सकता या अपनेमें परिवर्तनके लिये हम भरपूर प्रयत्न नहीं करते।

हम सच्चे हृदयसे प्रयत्न करें तो हम निश्चय ही अपने आपमें मनमाना परिवर्तन कर सकते हैं और जरूर कर सकते हैं।

योगवासिष्ठमें ठीक ही कहा है:—

अत्रैकं पौरुषं यत्नं वर्जयित्वेतरा गतिः।
सर्वदुःखक्षयप्राप्तौ न काचिदुपपद्यते॥

संसारके दुःखोंके निवारणका एक ही उपाय है और वह है—पुरुषार्थ।

हमारा उद्धार हमारे ही हाथमें है। भगवान् बुद्ध कहते हैं—

यो सहस्सं सहस्सेन सङ्गामे मानुसे जिने।
एकं च जेय्यमत्तानं स वे सङ्गामजुत्तमो॥

हजारों आदमियोंको लड़ाईमें जो हजार बार जीत ले, उससे भी बढ़कर योद्धा वह है जो अपने-आपको जीत ले।

भगवान् महावीर कहते हैं:—

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए॥

'हे पुरुष! तू अपनी आत्माके साथ ही युद्ध कर। बाहरी शत्रुओंसे क्यों लड़ता है ? आत्मासे आत्माको जीतनेसे ही सच्चा सुख मिलता है।'

आइये, हम भी आजसे निश्चय करें अपनेको बदलनेका, अपनी गलत आदतें सुधारनेका, अच्छी आदतें डालनेका। हम सच्चा प्रयत्न करें तो हमारा भी जीवन पवित्र, सुन्दर, उज्ज्वल और आदर्श बनकर रहेगा। प्रभुका वरद कर हमारे मस्तकपर है ही। जरूरत है सिर्फ इतनी कि हम सच्चे हृदयसे कह दें—

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं॥
पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित-कंचनहिं कसैहौं॥
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन-मधुकर पनकै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं॥

बस, बेड़ा पार है।

सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय सत्सङ्ग है

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

यह विश्व प्रधानतया विरोधी द्वन्द्वरूप दुविधाओंसे भरा हुआ है । इसमें जीव और अजीव यानी चेतन और जड—ये दो प्रकारके द्रव्य ही भरे हुए हैं । प्रत्येक द्रव्यका एक बाहरी स्वरूप होता है, तो एक आन्तरिक । प्रत्येक द्रव्यमें गुण होता है तो पर्याय भी । नर और नारी इस विश्वके संचालनके मुख्य केन्द्र हैं । इनमें अच्छाई और बुराई--दोनों बातें पायी जाती हैं । पाप और पुण्यके द्वारा सद्गति और असद्गति मिलती है । अच्छी वस्तुओंके संयोग और सत्सङ्ग-सें दूसरोंमें भी अच्छाई आती है और बुरी बातों या बुरे लोगोंके सम्पर्कसे बुराई ।

सभी मनुष्य चाहते हैं कि हम अच्छे बनें, गुणी बनें, लोग हमारा आदर करें और हमें सद्गति प्राप्त हो । पर अच्छे बननेके साधनोंको सब लोग ठीकसे जानते नहीं और कुछ लोग जानते हैं, पर उन्हें अपनाते नहीं ।

इस संसारमें बुराइयों और बुरे लोगोंकी अधिकता है । सद्गुणों और सद्गुणियोंकी बहुत कमी है । यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि अच्छे बननेके लिये सत्पुरुषोंकी संगति और सद्गुणोंके प्रति आकर्षण एवं आदर होना अत्यावश्यक है और बुरे लोगोंसे बचे रहना भी उतना ही जरूरी है । अनुभवी व्यक्तियोंका कहना है कि 'जैसा संग, वैसा रंग' । इसलिये सत्सङ्गका माहात्म्य संत पुरुषोंने विशेषरूपसे गाया है । महात्मा तुलसीदासजीने भी कहा है—

> एक घड़ी आधी घड़ी, आधीमें पुनि आध ।
> तुलसी संगत साधु की, कटे कोटि अपराध ॥

पर सत्पुरुषोंकी पहचान होना भी सरल नहीं है; क्योंकि बाहरसे भले दिखनेवाले व्यक्ति अंदरसे काले—बुरे निकल जाते हैं । इसलिये एकाएक किसीकी बाहरी वेष-भूषा या मीठी वाणीसे प्रभावित न होकर अधिक निकट सम्पर्कमें जाकर उसके अन्तरको टटोलना चाहिये । विकार या कषाय-के कारण उपस्थित होनेपर भी जिनमें विकार और कषाय उत्पन्न न होते हों या जो अपनेको सँभाले हुए रख सकते हों, विपत्ति आदिमें भी जो सत्यमार्गसे विचलित न होते हों, किसीके कष्ट देने या निन्दा करनेपर भी जिनकी शान्ति भङ्ग न होती हो तथा सदा आत्मा और परमात्माके चिन्तनमें मग्न हों, वे ही सत्पुरुष हैं और उन्हींके अधिक सम्पर्कमें रहना 'सत्सङ्ग' है । उनका प्रभाव दो तरहसे पड़ता है, एक तो उनके आचरणद्वारा, दूसरा उनके उपदेशद्वारा । उनकी शान्त और सौम्य आकृतिको देखते ही देखनेवालेके चित्तमें परम शान्ति और आह्लादका अनुभव होता है । उनके आचार एवं विचारको देख और सुनकर मनुष्यको कल्याण एवं अकल्याणके मार्गोंका बोध होता है । उसकी वृत्ति एवं प्रवृत्तिमें अद्भुत परिवर्तन होने लगता है । बुरे कार्योंकी ओर उसका मन अग्रसर नहीं होता । यदि संस्कार या अभ्यासवश कोई बुरा कार्य हो भी जाता है तो उसका पश्चात्ताप हुए बिना नहीं रहता । संतपुरुष अपने सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्तियोंको सदा यह सत्प्रेरणा देते रहते हैं कि बुरे कार्योंको करना तो दूर, मनमें भी न आने दो और अच्छे कार्योंमें प्रयत्नपूर्वक आगे बढ़ो । अपने सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्तियोंमें, उन्हें जो भी दोष दिखायी देते हैं, उन्हें दूर करानेका वे प्रयत्न करते हैं; जितने भी कल्याण-मार्ग हैं, उनको बतलाते हुए उनमें अधिकाधिक प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा देते रहते हैं । यही सत्पुरुषोंकी संगतिका महान् फल है ।

विश्वमें सत्पुरुषोंकी संख्या विरल होती है । उनको पहचानना और उनके सत्सङ्गका लाभ मिलना तो और भी कठिन है । इसलिये सत्सङ्गकी प्राप्ति बड़े पुण्योदयसे ही हो सकती है । सर्वत्र और सब समय सत्पुरुषोंका मिलना सम्भव नहीं, इस कठिनाईको ध्यानमें रखते हुए महापुरुषोंने एक सुगम उपाय ही बतला दिया है कि सत्पुरुष प्राप्त न हों तो भी उनकी वाणी तो सर्वत्र और सब समय प्राप्त हो सकती है । इसीलिये उसीका स्वाध्याय करते रहो, उनके रचित पद-भजन, बड़ी मस्तीमें गाकर आनन्द प्राप्त करो । उनके उपदेशों और अनुभवोंके संग्रह-स्वरूप जो भी ग्रन्थ हों, उनका नियमित स्वाध्याय करो । जहाँतक सम्भव हो, उसके लिये एक नियत समय रक्खो । उस समय एवं उतने समयतक तो सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करो ही, पर अन्य समय भी, जब भी और जितना भी अवकाश मिले, स्वाध्याय, चिन्तन, मनन, निदिध्यासनमें लगो । इससे जीवनमें एक अद्भुत क्रान्ति होगी । बुरे कार्योंसे क्रमशः घृणा होती चली जायगी और अच्छे कार्योंके करनेमें उत्साह बढ़ेगा । इससे आत्मोन्नति—आत्मकल्याण होना सहज हो जायगा ।

वैसे तो आजकल शिक्षाका प्रचार बहुत हो रहा है और लोग पुस्तकोंको भी काफी संख्यामें पढ़ते रहते हैं; पर उनमेंसे अधिकांश अध्ययन आत्माको पतनोन्मुखी बनानेवाला है। जिन ग्रन्थोंको पढ़नेसे विषयवासना और बुरी बातोंकी ओर आकर्षण बढ़े, उन ग्रन्थोंको पढ़नेसे अकल्याण ही होता है। और आज-कल जगह-जगह ऐसी ही पुस्तकें ही अधिक संख्यामें पढ़ी जाती हैं और इसीलिये अनैतिकता अग्निकी तरह बढ़ी जा रही है। अमूल्य समयकी बर्बादी और बुरे विचारों तथा कार्योंकी ओर प्रवृत्ति बढ़ना मानव-जन्मको बेकार खोना ही नहीं, उसका मजाक करना और अपना भविष्य बिगाड़ना है। ऐसे ग्रन्थोंके पढ़नेकी अपेक्षा तो नहीं पढ़ना ही अच्छा है। इसलिये हमें ऐसे ग्रन्थोंको ही पढ़ना चाहिये जो जीवनमें सत्कार्योंकी प्रेरणा दें। ऐसे ग्रन्थोंका स्वाध्याय ही सत्सङ्गका एक अङ्ग माना जाता है। महात्मा गांधीकी एक पुस्तक 'मेरे जेलके अनुभव' गत वर्ष ही प्रकाशित हुई है। उसमें दक्षिण अफ्रीकाके सन् १९०९-१० के जेल-यात्राके अनुभव प्रकाशित हुए हैं। वे लिखते हैं—

'जेल और सत्याग्रहसे मुझे अनेक लाभ हुए हैं। उनमेंसे एक इस अवधिमें मुझे पुस्तकें पढ़नेका जो अवसर मिला वह भी है। मुझे स्वीकार करना चाहिये कि शुरूके दिनोंमें मैं कुछ विचारमें पड़ जाता था, दुःखसे ऊब उठता था। बार-बार मैं अपने मनको अंकुशमें लाता था और वह बार-बार बंदरकी तरह चञ्चल हो जाता था। ऐसी स्थितिमें आदमी अक्सर पागल-जैसे हो जाते हैं। पुस्तकोंने मेरी बड़ी रक्षा की। भारतीय भाइयोंके समागमकी कमी बहुत अंशमें पुस्तकोंने पूरी की। मुझे रोज पढ़नेके लिये लगभग तीन घंटे मिल जाते थे। एक घंटा सुबह मिलता था। मैं उस समय खाता नहीं था। इसलिये वह बच जाता था। शामको भी ऐसा ही होता था। दोपहरको खाते समय मैं पढ़नेका काम भी करता था। शामको मैं थका न होता तो बत्ती जलनेके बाद भी पढ़ता था। शनिवार और रविवारको तो बहुत समय मिलता था। इस कालमें मैंने लगभग तीससे ज्यादा पुस्तकें पढ़ीं और उनमेंसे कुछपर विचार किया। ये पुस्तकें अंग्रेजी, हिंदी, गुजराती, संस्कृत और तामिल भाषाओंकी थीं। अंग्रेजी पुस्तकोंमें उल्लेखनीय टालस्टाय और कार्लाइलकी थीं। पहली दो धर्मसम्बन्धी थीं। इनके साथ मैंने बाइबिल भी पढ़ी। वह जेलसे ही ली थी। टालस्टायकी रचनाएँ बहुत सरल और सरस हैं और किसी भी धर्मको माननेवाला उन्हें पढ़कर उनसे लाभ उठा सकता है।

'फ्रेंच-क्रान्तिपर लिखी हुई कार्लाइलकी रचना असरकारक है। उसे पढ़कर मुझे विश्वास हो गया कि हिंदुस्तानकी दुर्दशा मिटानेका उपाय हमें गोरी जातियोंसे नहीं मिलेगा। मेरी मान्यता है कि फ्रेंच प्रजाको क्रान्तिसे आम लाभ नहीं हुआ। मेजिनीका भी यही विचार था।'

'गुजराती, हिंदी और संस्कृत पुस्तकोंमें मैंने स्वामीजीकी ओरसे भेजी गयी पुस्तक वेद-शब्द संज्ञा, केशवराम भट्टके भेजे हुए उपनिषद्, श्रीमोतीलाल दीवानकी भेजी हुई मनुस्मृति, फिनिक्समें छपी हुई रामायण, पातञ्जलयोगदर्शन, नथुरामजीकी बनायी हुई आह्निकप्रकाश और प्रोफेसर प्रमानन्दकी दी हुई संध्याकी गुटिका, गीताजी तथा स्वर्गीय कवि श्रीराजचन्दकी रचनाएँ पढ़ीं। इन पुस्तकोंको पढ़नेसे मुझे विचार करनेके लिये बहुत कुछ मिला। उपनिषदोंके वाचनसे मुझे बहुत शान्ति मिली। उसका एक वाक्य मेरे मनपर अंकित हो गया है। उसका सार यह है कि 'तू जो भी कर वह आत्माके कल्याणके लिये ही कर।' यह बात जिन शब्दोंमें कही गयी है वे बहुत ही सुन्दर हैं। उनमें और भी बहुत-सी बातें विचारणीय हैं; परंतु सबसे ज्यादा संतोष मुझे कवि श्रीराजचन्दकी रचनाओंसे मिला। उनकी रचनाएँ* मेरी रायमें तो ऐसी हैं, जो सबको मान्य हो सकती हैं। उनकी जीवन-चर्या टालस्टायकी तरह उच्चकोटिकी थी। उनकी रचनाओंमेंसे और संध्याकी पुस्तकमेंसे कुछ हिस्सा मैंने कण्ठस्थ किया था। रातको जब भी जागता तब-तब मैं उसका रटन करता था और सुबहका आधा घंटा हमेशा उन्हीं विचारोंके मननमें बिताता था।'

---

* श्रीमद्राजचन्दकी समस्त रचनाएँ 'श्रीमद्राजचन्द' नामक ग्रन्थमें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनका हिंदी अनुवाद भी परमाश्रुतप्रभावक मण्डल बम्बईसे छप चुका है। श्रीमद्का महात्मा गांधीपर बहुत प्रभाव पड़ा था। श्रीमद्राजचन्दके सम्बन्धमें 'कल्याण' एव साप्ताहिक हिंदुस्तानमें कुछ वर्ष पूर्व अच्छे लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

दानवीर दधीचि

(लेखक—डा० श्रीहरिनन्दनजी पाण्डेय)

गिरिराज हिमालयके तुषारमण्डित धवल शिखरकी तलहटीमें संसारके कोलाहलसे दूर पुण्यसलिला भागीरथीके तटपर महर्षि दधीचिकी पर्णकुटी थी। आश्रममें आनन्द एवं शाश्वत शान्तिका साम्राज्य था। दुःख, दैन्य, ईर्ष्या, क्रोध, छल-प्रपञ्च आदिका प्रवेश निषिद्ध था। चतुर्दिक् प्रेम-भावकी निर्मल निर्झरिणी प्रवाहित होती रहती थी। पर्णकुटीको पुष्प-लताओंने आच्छादित कर रक्खा था। साथ ही सघन पादप-पुञ्ज अपने अमृतोपम सुस्वादु एवं सुपक्व फलोंसे आश्रम-वासियोंकी क्षुधाकी तृप्ति करते। विविध विहंगावलियाँ अपने काकली-स्वरोंसे उस तपोवनके अणु-अणुको मुखरित किये रहतीं। रसलोलुप मधुप अपने हृदयमें अपरिमित उल्लास लिये फूल-फूलपर अठखेलियाँ करते। आश्रममें समरसता थी और ऊँच-नीचका भेदभाव नहीं था। आश्रमवासियोंको न तो सुखसे आनन्दकी अनुभूति होती थी और न दुःखसे पीड़ा। न निन्दासे क्रोध होता था और न स्तुतिसे प्रसन्नता ही। यही कारण था कि विधाताने इस भू-भागपर स्वर्गिक सौन्दर्य बिखेर रक्खा था। साथ ही आश्रम ऋषियों एवं शिक्षार्थियोंके कलकण्ठसे निःसृत 'हरिः ॐ तत्सत्' की कर्णप्रिय ध्वनिसे सदैव प्रतिध्वनित होता रहता था। सुदूर प्रान्तोंके ज्ञान-पिपासु व्यक्ति महर्षिके श्रीचरणोंमें बैठकर अध्यात्मकी शिक्षा प्राप्त करते थे। महर्षि आगत ज्ञान-पिपासुओंसे यही कहते थे कि जगत्में सिवा ब्रह्मके और कुछ नहीं है; ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। उनका यह भी कहना था कि इस शून्य जगत्में सत्य ही शाश्वत है; जो शिव भी है और सुन्दर भी। आप यह भी कहते थे कि जिस भाँति पेड़ पाषाण आदिसे प्रताड़ित होकर भी आक्रामकको अपना सुस्वादु फल भेंट करते हैं और जिस भाँति दीपक स्वयं जलकर दूसरेको प्रकाश देता है; उसी भाँति मानवका भी पावन कर्त्तव्य है कि वह प्राणिमात्रकी सेवाके हेतु अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर दे; क्योंकि परोपकारी जीवोंके हाथों मृत्यु सर्वथा पराजित होती रही है।

ऐसी ही सुनहली सीख भारतका वह तपःपूत विश्वको देता था। इस महाप्राणके त्याग, प्रकाण्ड पाण्डित्य, अलौकिक दानशीलता एवं निःस्वार्थ सेवाके समक्ष मानव-जातिकी कौन कहे, स्वयं देवराज नतमस्तक रहते थे। यों तो अमरपुत्रोंकी नगरी होनेके कारण स्वर्ग नाना भाँतिकी सम्पदाओंसे परिपूर्ण था, परंतु उस महामानवकी उस वन-स्थलीकी अलौकिक सुन्दरताके आगे वह (स्वर्ग) श्रीहीन प्रतीत होता था।

(२)

अमरपुत्र वासना, कर्त्तव्यहीनता, निष्क्रियता और विविध दूषणोंके वशीभूत हो चले थे। सुरा और सुरबालाके व्यामोहमें पड़कर वे कर्तव्यच्युत होते जा रहे थे। स्वार्थ-सिद्धिमें ही उनका समय बीतने लगा। नन्दनपुरीके निवासी सोमपान और सुरबालाओंके मादक आलिङ्गनमें ही अपने जीवनकी सार्थकता अनुभव करने लगे। कोकिलकण्ठी अप्सराओंकी मादक स्वर-लहरियों एवं उनके नूपुरोंसे सेवित चरणोंपर सुरलोकतक चढ़ाया जाने लगा।

उधर दानवोंने जब देखा कि अमरपुत्र पथ-भ्रष्ट हो रहे हैं; अपने धर्मसे विमुख हो चले हैं, तो एक दिन युद्ध-घोषणा कर दी। युद्ध-घोषसे अमरपुत्र थर्रा उठे। फिर क्या था, विधवाके कष्टपूर्ण जीवनके समान यह देव और दानवका युद्ध अनन्त कालतक चलता रहा। अमरपुत्रोंकी पराजय-पर-पराजय होने लगी और एक दिन आत्म-समर्पणकी घड़ी भी आ पहुँची। निदान, भगवान् शचीपति व्याकुल होकर पितामह (ब्रह्मा) की शरणमें गये और करबद्ध प्रार्थना करने लगे—'हे जगत्पते ! आज दानवोंके समक्ष हमारा अस्तित्व लुप्त होने जा रहा है। आज हमें इसका भान हुआ है कि हम कितने दुर्बल, कितने व्यसनी और कितने अधार्मिक हो गये हैं। फिर भी हम आपके हैं और आप हमारे हैं। प्रभो ! सुरगणोंकी लज्जा अब आपके हाथमें है। हे दयासिन्धु ! आप रक्षा करें। त्राहि माम्।' दूसरे ही क्षण सुरराजके नेत्र आर्द्र हो उठे।

विधाताने किंचित् क्रोधपूर्ण वाणीमें कहा--'मुझे दुःख है कि इस लोकमें किसीमें भी इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह दानवोंको पराजित कर सके। मैं विवश हूँ।'

इसपर देवराजने साश्चर्य पूछा—'यह मैं क्या सुन रहा हूँ, जगत्पते ! आप तो निखिल विश्वके सृजनहार हैं, फिर ऐसा क्यों बोल रहे हैं ?'

'मैं सत्य कहता हूँ, सुरेश ! दानवोंको पराजित करनेका मात्र एक ही मार्ग है और इसके लिये तुम्हें मर्त्यलोककी

शरण लेनी पड़ेगी। मानवीय-साहाय्यके अभावमें अमरपुत्रोंकी विजय कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।'

'समझमें नहीं आ रहा है कि आज आप क्या बोल रहे हैं, भगवन्! भला जिस कार्यको अमरपुत्र नहीं कर सकते, उसे करनेकी क्षमता मानवोंमें कैसे होगी?'

'देवराज! कोई जन्म लेनेसे ही उच्च नहीं होता, कर्तव्यसे ही महानताकी प्राप्ति होती है। यदि मर्त्यलोकके एक नश्वर मानवमें दयाशीलता, परोपकारिता, दानशीलता और बन्धुत्वकी भावना हो, तो वह इन गुणोंसे रहित अमरपुत्रोंसे कहीं महान् है, कहीं पूज्य है। प्रमाणस्वरूप, उसे देखो। हिमालयकी तलहटीमें वह जो हाड़-मांसका पुतला दृष्टिगोचर हो रहा है न, उस महामानवमें हमसे अधिक शक्ति संनिहित है।

'देवेन्द्र! शारीरिक शक्ति आत्मशक्तिके समक्ष तुच्छ होती है। जिसके पास आत्म-बल है, वही बली है। शारीरिक शक्ति तो पशुओंमें भी होती है। तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि आज निखिल विश्व उस महाप्राणकी आत्मिक शक्तिके समक्ष नतमस्तक है। अतः उसकी अस्थिसे यदि अस्त्रका निर्माण किया जाय, तो देवताओंकी विजय हो सकती है। क्या तुम उस महामानवकी अस्थि प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकते हो?'

'कार्य तो कठिन है, महाप्रभु! फिर भी मैं यथाशक्ति प्रयास निश्चय ही करूँगा। आप आशीर्वाद दें, यही कामना है।' इन्द्रने निवेदन किया।

'भगवान् देवाधिदेव तेरी सहायता करें।'

(३)

'श्रीचरणोंमें मेरा प्रणाम स्वीकार हो, महामुने!' 'कौन? क्या देवराज इन्द्रकी वाणी है?' महर्षिने जिज्ञासा की।

'हाँ! आपका अनुमान अक्षरशः सत्य है, महर्षि! परंतु, देवराज आज महाप्रभुके चरणोंमें एक याचकके रूपमें उपस्थित हैं। जो हाथ हमेशा देते ही रहे हैं, वे ही आज श्रीमान्के समक्ष झोली लिये खड़े हैं।'

इन्द्रकी इस याचनासे भूतलके कण-कणमें 'जय दधीचि' 'जय भारत'के नारे लगने लगे।

सुरेशने पुनः प्रार्थना प्रारम्भ की—'दानवीर! यह तो विदित ही होगा कि दानवोंके अत्याचार और पापाचारसे सत्यका ह्रास प्रारम्भ हो गया है, निखिल विश्वमें हाहाकार मचा हुआ है, सुरपुरमें घोर आतङ्क व्याप्त है और हिंसाकी भीषण ज्वालामें तप और पुण्य धू-धू कर जल रहे हैं।'

'मुझे ज्ञात है, देवराज! परंतु, इसका निराकरण कैसे होगा, इसपर भी आपने सोचा है?' महर्षिने गम्भीर होकर पूछा।

'हाँ! एक ही संबल शेष है। पापियोंके विनाशार्थ एवं धर्म-संस्थापनार्थ एक महामानवको अपने जीवनकी आहुति देनी होगी। बस, यही निराकरणका एकमात्र उपाय है।'

वह कौन भाग्यवान् मानव है, जिसकी बलिसे अमर-पुत्रोंकी एवं धर्मकी रक्षा हो सकती है, सुरराज!' महर्षिने गद्गद होकर तत्क्षण जिज्ञासा की।

'वह महामानव महर्षि दधीचि हैं, जिनकी अस्थिसे वज्र प्रस्तुत किया जायगा, जो दानवोंका संहार करेगा। महात्मन्! बस, इसीमें जन-हित संनिहित है। इसी लोक-हिताय भावनाने श्रीचरणोंके दर्शन कराये हैं।' तत्पश्चात् इन्द्र अपलक नेत्रोंसे महर्षिके मुखपटपर अंकित होनेवाले मनोभावोंका सूक्ष्म अन्वेषण करने लगे।

सुरराजके वचनोंपर महर्षि मुस्कराये, फिर दृढ़ स्वरमें बोले—'सुरेश! वह तन धन्य है, जो किसीके काम आये। शरीर तो नश्वर है ही, फिर इसके लिये चिन्ता कैसी? विषाद कैसा? मानव-शरीरकी सार्थकता इसीमें है कि यह दूसरेके हितमें उत्सर्ग हो जाय। पुष्प क्या अपने लिये खिलते हैं? पादप क्या अपने फलोंको स्वयं भक्षण करते हैं? क्या सर-सरिताएँ अपने जलोंको स्वयं पान करती हैं? जब जड-पदार्थोंमें इतनी जन-हितकी भावनाएँ हैं, तो हम मानव इससे वञ्चित क्यों हों? देवराज! मेरा यह पार्थिव शरीर सादर एवं सप्रेम समर्पित है। कृपया इसे स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करें।'

फिर दूसरे ही क्षण दानवीरने यौगिक-क्रियाद्वारा श्वास रोक लिया और उनका नश्वर शरीर तत्क्षण भू-लुण्ठित हो गया!

महर्षि दधीचिके इस अनुपम त्याग, उनकी अलौकिक दानशीलता, उनकी परहितभावना आदि गुणोंको स्मरण कर देवताओंने आकाशसे पुष्प-वर्षा की और वसुन्धराके अणु-अणु 'दानवीर दधीचिकी जय' बोल उठे।

टूटते हुए घर

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

जब मैं छोटा था तब विद्यालयोंकी संख्या कम थी; पढ़ाईका यह भेड़ियाधसान न था जो आज है। वही पढ़ते थे जो सचमुच पढ़ना चाहते थे। विद्याका सम्मान था—कम-से-कम आजसे अधिक था। हाँ, यह अवश्य था कि पैसा और वेतन उसकी कोई कसौटी न थी। सभाएँ-संस्थाएँ भी कम थीं। समाचारपत्र कम थे; पत्रिकाएँ कम थीं। पुस्तकें कम लिखी जाती थीं। मंच कम थे; व्याख्यान कम होते थे, व्याख्याता कम थे, श्रोता अधिक;—आजकी तरह नहीं कि श्रोता कम, व्याख्याता ही अधिक हैं। यह तो जरूरी नहीं था कि जो कहा जाय उसे ही मान लें, परंतु लोग गुरुजनों, विद्वानोंकी बातोंपर विचार अवश्य करते थे; सुनते भी थे और गुनते भी थे।

परिवार समाजकी सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था थी। कहनेको वह आज भी है; उस समय सचमुच थी। व्यक्तिका अपना व्यक्तित्व तो था ही और वह सदा ही रहेगा, परंतु गृहका—परिवारका भी अपना एक व्यक्तित्व होता था। हर गृहकी अपनी एक विशेषता होती थी। सबसे मुख्य बात यह थी कि परिवारमें जो भी होते थे, एक-दूसरेके लिये जीते थे—केवल अपने लिये नहीं। और जब हम दूसरोंके लिये जीते हैं तभी हम वस्तुतः जीते हैं; तब हमारे स्वार्थकी सीमा हमारे निजत्वको लाँघ-लाँघकर चलती है;—एक संकुचित परिधि बड़ी और बड़ी होती जाती है। हमारे हृदय जुड़ते हैं; विचार-भेद होते हुए भी जुड़ते हैं। तब हम दूसरोंके लिये जीनेमें आनन्दका अनुभव करते हैं; उदारता, एक-दूसरेको समझने और अपनेसे दूसरेको जोड़ लेने, निवाह लेनेकी भावनाके वातावरणमें जीते हैं। तब दूसरोंको अपनाना सहज होता है। इस तरह आरम्भ होती थी हमारी क्षुद्रसे विराट्की यात्रा; एकसे अनेक होते और फिर अनेकमें भी एकको देखनेकी साधना।

और भी एक बात थी। चिरकालसे हमारी सभ्यताकी धारा गुरुजनोंके आशीर्वाद और पथदर्शनमें बहती रही है। यही थी हमारी संस्कृति। मैं देखता था कि जो घरका बड़ा होता था, वह कम पढ़ा और कम कमाऊ होनेपर भी सबके सम्मानका पात्र था; सबका श्रद्धाभाजन था। उसकी बात साधारणतः अन्यथा नहीं की जा सकती थी। 'सूत्रे मणिगणा इव' वह सबके जीवनमें व्याप्त होता था। वह सबको देखता था, सबको लेकर चलता था और सब उसकी इज्जत करते थे। लोग अलग-अलग ठीक होते हुए भी उसकी बात मान लेते थे; वह मानो इतनी आत्माओंके समन्वयका प्रतीक था—सब उसमें थे और वह सबमें था। प्रत्येक सदस्य अपना कर्तव्य करके सब कुछ मानो उसे समर्पित कर देता था और वह परिवारकी समष्टिगत उपलब्धिके रूपमें सबको लेकर सबको कृतार्थ करता एवं स्वयं भी कृतार्थ होता चलता था। इस प्रकार परिवार व्यक्तिकी सुरक्षाकी गारंटी होनेके साथ ही मानो व्यक्तिमें समाजका विकास करनेमें भी तत्पर था।

इसीलिये कर्ता सबको खिलाकर तब खाता था; माँ अपने बच्चोंके लिये और उन्हींकी होकर जीती थी। परिवारकी नैतिक संहितामें कर्ता एवं गृहिणीके हाथ परिवारका स्वामित्व था परंतु यह स्वामित्व केवल इसलिये था कि वे सबसे ज्यादा उत्सर्ग करते थे; वे मानो गृहमें ब्राह्मण-धर्म या संन्यास-भावनाके प्रतीक थे; वे अपने लिये सबसे कम लेते थे और देते भरपूर थे—श्रमसे, प्रेमसे, सेवासे, धनसे, अनुभवसे। उनका जो कुछ था सबका था, सम्पूर्ण परिवारके लिये था।

सास घरमें आनेवाली बहू या बहुओंके लिये केवल सास न थी; वह उनकी माँ भी थी। अपनी जननीकी गोद छोड़कर आनेवाली बहूको वह अंकमें भर लेती थी, दिलमें बिठाती थी; परंतु वह भी चाहती थी कि बहू केवल बहू बनकर न रह जाय, वह अपनी कोखसे जनी और पराये घर जानेवाली कन्याका स्थान भी ले ले। इसलिये बहूके लिये सास जहाँ सासके साथ माँ भी थी तहाँ सासके लिये भी बहू बहूके साथ बेटी थी। बहू केवल अपने पतिकी पत्नी न थी; वह गृहलक्ष्मी थी—सारे घरकी थी; अपने देवरकी भाभी और जीवनकी डाँवाडोल मंजिलोंपर प्रेमसे उसे आगे बढ़ानेवाली, ननदकी भौजाई—जिसके साथ स्नेहालाप और विनोद-वार्तामें घर चमक-चमक उठता है, खिलखिला पड़ता है।

मैं यह नहीं कहता कि सास सदा अच्छी होती थी, या यह कि बहुएँ सब देवियाँ ही होती थीं; सास-बहूका

प्रश्न तब भी था, पर सब कुछ होनेपर भी घरके सब लोग यह मानकर चलते थे कि घर सबका है—उसकी इज्जत सबकी इज्जत है। इसलिये लड़-भिड़कर भी सब एक हो जाते थे; अलगावकी भावना वातावरणमें न थी। अलगाव तब भी होता था किंतु वह कोई सामान्य क्रम न था—जब भी होता था तब आश्चर्यकी भाँति, एक अनहोनी दुर्घटनाके रूपमें ग्रहण किया जाता था। लोगोंको उससे गहरी चोट लगती थी। लोग उसकी मिसाल देते और उससे सावधान होते थे। कभी औरतोंमें कुछ बात हो भी जाती तो घरके पुरुष उसपर कान न देते थे। आगको घी क्या लकड़ी भी न मिलती थी; स्वभावतः वह बुझ जाती थी; झगड़ा पनप नहीं पाता था। देवरानियों-जेठानियों, ननदों-भौजाइयोंमें कभी दो-दो हो भी जाती थी किंतु भाईके सामने भाईकी आँख न उठती थी। बड़ोंका ऐसा लिहाज था कि उनके सामने हम बोल न पाते थे; झगड़े होते थे तो भाई भाईके लिये रोता था; जैसे अलग होनेमें उसका हृदय फट जायगा; जैसे वह सब कल्पनाके परे हो।

सब मिलाकर बहू घरका केन्द्र थी। परिवारकी समस्त अपेक्षाएँ नयी आनेवाली बहूमें सिमटी होती थीं—मानो वह हाथमें दीपक लिये अँधेरे घरमें प्रवेश करती थी। हाथ ही क्यों, उसके हृदयमें भी एक दीपक होता था; वह हृदय-दीप आज स्नेहके अभावसे बुझ गया है या बुझता जा रहा है; और हाथका दीपक प्रकाश कम दे रहा है, जला अधिक रहा है। जिस दीपकसे घर प्रकाशित होता है उसीसे वह जल भी जाता है। तब बात दीपककी उतनी नहीं रह जाती जितनी उसके उचित प्रयोगकी रहती है।

हाँ, तो मैं कह यह रहा था कि यह छोटी-सी दुनियासे अपरिचित बालिका गृहलक्ष्मी बनकर घरमें प्रवेश करती थी। उसका अभिराम नयनोन्मीलन पतिके प्रकोष्ठको सुषमासे भर देता था; उसकी मीठी मुस्कान समस्त घरपर छा जाती थी; उसके परिहासमें देवर उमग-उमग उठते थे; उसका विनोद ननदोंको गुदगुदा देता था; उसकी प्रणति सास-ससुरको मुग्ध कर देती थी। उसके पाँव पड़ते ही मानो सारा घर प्राणोन्मेषक रससे भर जाता था।

यदि वह घरमें कोई दरार देखती तो अपने कलेजेके खूनसे गारा बनाकर उसे भर देती थी; उसके कारण बिछुड़ते भाइयोंके कदम रुक जाते थे; उसकी मीठी बोलीमें ननदोंके भारी मनका भार उतर जाता था। वह ऐसी सीमेंट थी जिसके द्वारा परिवारके सब सदस्य एक-दूसरेसे जुड़े रहते थे। वह सचमुच गृह-लक्ष्मी थी।

मैं यह नहीं कहता कि हर लड़की जो ससुरालके आँगनमें प्रवेश करती थी, देवी ही होती थी। नहीं, चण्डिकाएँ भी दुर्लभ न थीं—चण्डिकाएँ जो जहाँ जाती हैं घर उजाड़ देती हैं, दिलोंके टुकड़े कर देती हैं; जिनकी एड़ीसे आग निकलती है और जिनकी जिह्वा केवल डँसना जानती है; परंतु चूँकि इन स्त्रियोंका मूल्य पुरुष समझते थे, इसलिये उनकी बातोंको बहुत ज्यादा महत्त्व न प्राप्त होता था—सौमें एक स्त्रैण पति ऐसा होता था जिसके मातृ-प्रेम, जिसकी पितृभक्ति, जिसकी भ्रातृत्व-भावनापर पत्नीकी कँटीली जीभकी चोटें उभर आती थीं। बाकीके सामने हवाकी तरह, बात आयी-गयी हो जाती थी।

पहिले भी घर टूटते थे; मुकदमेबाजी होती थी परंतु बड़ी मुश्किलसे यह सब होता था। कुटुम्ब, परिवार एक संस्था थी और संस्था चले इसलिये व्यक्ति आत्मदान कर देता था। जहाँ नहीं कर पाता था, वहाँ भी बड़ी वेदनाके साथ प्रायः चुप-चाप अपनी खीझ और कराह लेकर नीची निगाह किये अलग होता था और अलग होकर भी उस मातृ-संस्थाके प्रति गर्व और गौरवका भाव रखता था—कुछ ऐसा कि हम उसी वृक्षके टूटे फूल हैं। इस भावनाके कारण घर टूटता था पर कम टूटता था, कभी-कभी ही टूटता था और टूटकर भी नहीं टूट पाता था।

परंतु आज जब आदमी दम्भपूर्वक कहता है कि संसार समाजवादकी ओर जा रहा है और जब अपने देशमें भी हम बार-बार घोषणा करते हैं कि हम समाजवादी प्रजातन्त्रकी सृष्टि करके रहेंगे तब अत्यन्त आश्चर्यके साथ हम देखते हैं कि जीवनदृष्टि घोर व्यक्तिवादिनी होती जा रही है; अपनी बात रखने, अपनी सनकोंके लिये हम व्यक्तिसे बड़े अनेक व्यक्तियोंके हित-संघटन, कुटुम्ब और परिवारको तोड़ देते हैं, प्रजातन्त्रकी मौलिक इकाइयोंको विध्वस्त कर देते हैं। सबसे आश्चर्यजनक तो होती है हमारी वह जल्दबाजी जिसमें अपनी दृष्टिपर पुनर्विचार करनेकी तैयारीतक नहीं है। जो कमाऊ सदस्य है, कमाई आज उसीकी है और मुख्यतः उसीके लिये या उसीकी सनकके अनुसार खर्च होनी चाहिये; उसीकी धौंस चलनी चाहिये। इसीलिये पत्नीकी

जरा ज्यादा काम करना पड़ा कि आजके व्यक्तिवादी अपनेमें केन्द्रित पतिको झट बुरा लगता है; वह कुढ़ता है और कुढ़ती हुई पत्नीको शह देता है या फिर उसके सामने शीघ्र आत्मसमर्पण कर देता है। वह कुटुम्बका सामूहिक हित नहीं देखता; यह भी नहीं समझता कि उसकी पत्नी किसीकी पुत्रवधू है, किसीकी भाभी है, किसीकी जेठानी-देवरानी है, वह बस इतना देखता-समझता है कि वह उसकी पत्नी है।

स्वभावतः जब व्यक्ति अपनी स्वार्थ-सुविधामें समाहित है तब टकरायेगा और टकरायेगा। यही होता है। पहिले काठ हो रहे हृदयसे धुवाँ निकलता है, फिर अनुकूल वायु मिलते ही लपटें निकलने लगती हैं; देखते-देखते सब स्वाहा हो जाता है। अलग होकर जिस स्वर्गकी सृष्टिकी कल्पना थी वह भी मृगजल ही निकलता है—तब फिर आह है और कराह है; टूटनेका सिलसिला मौततक चलता रहता है!

घर टूट रहे हैं, नित्य टूट रहे हैं; हमारे आगे-पीछे, दाहिने-बायें चारों ओर टूट रहे हैं!

एक चिनगारी बड़े-बड़े महलोंको जलाकर राख कर देती है। स्त्री भी चिनगारी ही है। उचित स्थितिमें रहकर वह अनेक सुखकर योग उपस्थित करती है, बड़े काम आती है, स्थानभ्रष्ट होकर ज्वाला बन जाती है। तभी एक स्त्री घरको बनाती है, दूसरी उसे बिगाड़ देती है। एकके वरदानसे श्मशान स्वर्ग बन जाते हैं; जब दूसरीके फूत्कारसे स्वर्ग श्मशान हो जाते हैं। एक आती है तो उसके आते ही सारा घर हँस पड़ता है, सूखी टहनियोंमें भी जीवनकी कोंपलें फूटती हैं; दूसरी आती है तो हँसता घर सहम जाता है।

आज घर टूट रहे हैं—तेजीके साथ टूट रहे हैं; अनेक रूपोंमें टूट रहे हैं। सबसे भयानक बात तो यह है कि प्रायः हम समझ बैठते हैं कि यह टूटना ही शुभ है; यही उचित है। जीवनमें उदार संस्कारोंका अभाव होता जा रहा है। वैसे हम कहते और मानते तो यह हैं कि आज हम अपने पूर्वजोंसे इस क्षेत्रमें आगे हैं, संसारसे जुड़ गये हैं, दूर-दूर देशोंके अत्याचार-अभाव-उत्पीड़न-कष्ट हमें छूते हैं। हम उनकी सहायता भी करते हैं। किंतु सब कुछ भौतिक स्तर-पर होता है, राजनीतिक दृष्टिसे होता है। हृदय-रसकी बूँदें स्रवित होकर जो दूसरे हृदयोंको आर्द्र कर देती हैं, दूसरोंको जो अपनेमें समेट लेती हैं—उस धड़कते हृदयके रससे यह सब परिप्लावित नहीं होता—एक यान्त्रिकतामें आबद्ध, नियतिके हाथ बेबस करना ही है। इसलिये करते हैं या ऐसा न करना अराजमर्मज्ञताकी—'अनडिप्लोमैटिक'— बात होगी, इसलिये करते हैं; अपने बड़प्पनके प्रदर्शनके लिये भी करते हैं। इसीलिये तो हम परदेशोंके प्रति मैत्रीकी संस्थाएँ चलाते हैं, दूर-दूरतक मैत्रीका संदेश भेजते हैं, परंतु अपने ही भाई, अपनी ही बहिन, अपने ही माता-पिताके प्रति खीझ-दुराव और बिलरावसे भरते जाते हैं; हम डालियोंको सींचते हैं परंतु जड़ काट देते हैं!

जब मैं यह सब लिख रहा हूँ तब मेरी आँखोंके सामने बरबस दो चित्र नाच-नाच उठते हैं, दोनों चित्र एक ही परिवारके हैं; मेरा मतलब है कि दो भाई जो अलग हुए बिना भी आजके आर्थिक दबावके कारण दूर-दूर हो गये हैं, उन्हींसे सम्बद्ध। एक भाईको 'क' कह लीजिये, दूसरेको 'ख'। 'क' बड़े विचारवान् व्यक्ति हैं, विद्वान् हैं, उनका बाहर बड़ा सम्मान है। अपने बच्चोंको पेट काट-कर पढ़ाया-लिखाया, संस्कार दिये; कभी अपने बच्चोंपर हाथ नहीं उठाया। 'क'की पत्नी सीधी-सादी हिंदू पत्नी हैं बच्चोंपर जान देनेवाली। बड़ी साधसे बड़े लड़केका विवाह किया। सासने ललककर बहूको हृदय लगाया, देवरोंने अपनी भाभीका हार्दिक स्वागत किया। एक ही ननद थी, उसने बड़े चावसे अपनी भाभीको देखा; परंतु शीघ्र ही हँसते घरसे धुवाँ निकलने लगा, दरारें पड़ीं, उन्होंने मुँह खोला और फिर इन दरारोंका मुँह कभी भरा न जा सका—वे चौड़ी ही होती गयीं; सबकी आशाएँ—आकांक्षाएँ उसमें समाती गयीं। पिता 'क' का दिल टूट गया। माँकी उमंगें मर गयीं। देवरोंके उभरते सीने बैठ गये। चञ्चल ननद एकाकिनी और गम्भीर हो गयी।

बात इतनी-सी थी कि जो बहू आयी वह अपनेमें आत्यन्तिक रूपसे केन्द्रित थी। वह शुरूसे ही अपना और पतिका एक अलग घर बसानेकी कामना लेकर आयी। वह बड़ी गर्विता थी। दूसरे क्या चाहते हैं, इसकी उसे परवा न थी। उसे परिवारके हितकी परवा न थी। वह मुँह चबाकर बोलती थी। बात-बातपर तिनकती-खीझती थी।

झमककर चलती थी । विनय, शिष्टता-जैसी चीजका उसमें नाम भी न था। उसे यह परवा न थी कि ससुर क्या खाते हैं, कब खाते हैं। ननदने कभी प्रेममें सनी बोली उसके मुँहसे नहीं सुनी। सास बहूके मुँहसे 'माँ' शब्द सुननेके लिये तरसती रह गयी। देवर घरसे भाग खड़े हुए। उसके पति यदि कभी माँके पास बैठकर खा लेते तो यह भी वह सह नहीं पाती थी। उसका बच्चा उसकी दादी-दादाके पास जाय या रहे, यह भी उसे सहन नहीं होता था। वह अपने पति एवं पुत्रपर सोलह आने अपना, केवल अपना अधिकार चाहती थी। अपनेसे बाहर उसकी आँख ही न खुलती थी। उसकी समझसे बाहर था कि जिस माँने पाल-पोसकर उसके पतिको इतना बड़ा किया है और इतने दिनोंतक उसकी सेवा-सहायता, देख-रेख की है, उसका भी उसपर कुछ अधिकार हो सकता है। वह घर, जिसकी ओर लोग नैतिक आदर्शोंके लिये देखते थे, देखते-देखते ढह गया, विघटित हो गया। लोग छिन्न-भिन्न हो गये। 'क'ने बड़ी साधोंसे यह पौधा लगाया था। उससे उन्हें बड़ी आशाएँ थीं; किंतु नियतिकी एक ठोकरमें सब चूर हो गयीं। उन्होंने अपनी मर्यादासे झुककर भी बहूको बहुत तरहसे समझाया, अनेक करुणपत्र लिखे पर उसपर कोई असर नहीं हुआ। फलतः उन्होंने स्वयं ही बहूको प्रणाम कर लिया। यहाँ सबके सदाशय होते हुए भी एक स्त्री मानो पूरे घरको खा गयी।

'क' के भाई 'ख' एक शान्तिपरायण संस्कारवान् व्यक्ति हैं। उनके यहाँ भी एक दिन बहू आयी—चंदा-सी बहू और उसके आते ही घर 'झक'से प्रकाशित हो उठा। 'ख'के पुत्रको पत्नी तो मिली ही—एक जीवन-सखी और अपने प्रेमकी चाँदनीमें सब कुछ उजला कर देनेवाली पत्नी, पर उससे भी ज्यादा सासको मानो एक बेटी और मिल गयी। ननदको स्नेहमयी भाभी मिली। 'ख'का मन तृप्त हो गया है; वह अपने भविष्यके प्रति आश्वस्त हैं। साधोंसे पाली गयी लड़की परंतु काम यों करती है मानो सेविका हो, पर काम करती है सेविकाकी तरह नहीं—अपनेको गृहिणी समझकर। वह घरमें, परिवारमें व्याप्त हो गयी है और उसकी सेवाकी भाषा स्नेह एवं मृदुताके तरल बिन्दुओंसे सदा आर्द्र रहती है। यह स्नेहमें भीगा-भीगा, जीवनकी कठिनाइयोंको चुनौती देनेवाला घर—घर जिसपर दुर्दिनकी बदली कभी छा भी गयी तो एक फूँकमें उड़ जाती है। आशासे गदराया, मंजुल स्नेह-रश्मियोंसे प्रकाशित, अंदरसे उमगा-उमगा घर।

मैं जानता हूँ कि आज बहुत-से घर अर्थ-संघर्षके कारण टूट रहे हैं; परंतु ये चित्र उस कोटिमें नहीं आते। दोनों घरोंकी आर्थिक स्थिति एक-सी है; बल्कि पहिलेकी कुछ अच्छी ही होगी। जीवनकी कठिनाइयाँ दोनोंमें कुछ वैसी नहीं हैं; किंतु अन्तर इतना ही है कि जब 'क' की पुत्रवधू केवल अपने लिये जन्मी, केवल अपनेतक सीमित है, तब 'ख' की पुत्रवधू सम्पूर्ण घरकी है—बल्कि घरकी पहले है, पतिकी बादमें। उसे अपने घरपर गर्व है; वह समझती है कि घरका भविष्य ही उसका भविष्य है; घरका भाग्य ही उसका भाग्य है। वह सबको लेकर चलेगी, सबको लेकर जियेगी, सबको लेकर ही सुखी होगी। परिणाम स्पष्ट है, 'ख' का घर फल-फूल रहा है; हँस रहा है; कष्ट आते हैं, आँधियाँ आती हैं, पर उन सबके बीच सब आश्वस्त हैं। मन उमङ्गोंसे भरा, अंदरसे रस-पूरित है।

इन विषमताओंका कारण कुछ तो स्वभाव है। पहलीमें आर्द्रता, लचीलापन, उदारता, दूसरोंके लिये जीनेका संकल्प था ही नहीं; दूसरीमें ये बातें थीं, इसलिये पहिली चण्डिका और दूसरी देवी—गृहलक्ष्मी बन गयी। किंतु स्वभावके अतिरिक्त पतिकी दृष्टि और दृढ़ता भी ऐसे विषयोंमें महत्त्वपूर्ण अभिनय करती है। जहाँ पतिमें शुरूसे दृढ़ता होती है वहाँ विषम पत्नियाँ घरमें कोलाहल तो पैदा कर सकती हैं किंतु उसे विघटित नहीं कर पातीं। मेरे एक मित्र घी और अनाजके थोक व्यापारी हैं। उनके लड़कोंमें बड़ा भ्रातृ-प्रेम था। जब विवाहके बाद उनकी पत्नियाँ आयीं तो प्रत्येक लड़केने अपनी पत्नीको शुरूमें ही चेतावनी दे दी कि और चाहे जो करना, पर मेरे कानोंपर घरके झगड़े या शिकायत न ले आना। इतना गाँठ बाँध लो कि हम तुम्हें अलग कर देंगे परंतु भाई-भाई अलग न होंगे। फल यह हुआ कि विघटनकारी प्रवृत्तियोंको कहींसे शह न मिली। कपड़े-लत्ते जो भी चीजें आतीं, सबके लिये एक-सी आतीं, जरा भी घट-बढ़ नहीं। परिणामतः घर सुखी है; फूल-फल रहा है।

स्वर्ग-जैसे, कई प्राणोंकी सम्मिलित शक्तिके प्रतीक-समान, जीवनकी थकानको अपने स्पर्शसे मिटा देनेवाले घर, प्रेरणाके निर्झर-से घर, हौंस और उमंगोंपर तैरते घर मिटते जा रहे हैं; हमारे देखते-देखते मिटते जा रहे हैं। वह नारी जो

सौन्दर्यकी अञ्जलिमें प्रेमका वरदान लिये आती थी, अँधेरे कक्षमें दीपक जलाने आती थी, जिसके आँचल-तले मातृत्वकी गरिमा मचलाती थी, जिसके दृगंचलसे स्नेहके बिन्दु चूते थे, जिसके स्नेहमें मातृत्व अपनी सार्थकताकी छाया देखता था, मिट रहा है ! इस क्रमको सर्वथा बंद तो नहीं किया जा सकता; क्योंकि यान्त्रिकताका यह दानवी युग ही उसके विपरीत है, किंतु इसे एक सीमातक रोका जा सकता है; विघटनके क्रमको शिथिल किया जा सकता है । एक नया वातावरण पैदा किया जा सकता है—उदारताका वातावरण, दूसरोंके लिये जीनेका वातावरण, दूसरोंको जिला लेनेका वातावरण, पारिवारिक स्नेहका वातावरण ।

यह लगभग असम्भव कार्य है, फिर भी करना होगा; करना होगा । यदि हम वास्तविक सुख चाहते हैं; अपनी संस्कृतिको जीवित देखना चाहते हैं, हिंदू नारीमें अब भी जो सत् शेष है, अब भी जो आत्मार्पण है, अब भी स्नेहकी जो साधना है, चिरमङ्गलका जो दान है, उसकी ओर हम आशाके साथ देख सकते हैं । वह उठेगी तो घर भी उठेंगे; वह गिरेगी तो घर भी बैठ जायँगे ।

भाग्य-भोग

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'भगवन् ! इस जीवका भाग्य-विधान !' कभी-कभी जीवोंके कर्मसंस्कार ऐसे जटिल होते हैं कि उनके भाग्यका निर्णय करना चित्रगुप्तके लिये भी कठिन हो जाता है । अब यही एक जीव मर्त्यलोकसे आया है । इतने उलझनभरे इसके कर्म हैं—नरकमें, स्वर्गमें अथवा किसी योनि-विशेषमें कहाँ इसे भेजा जाय, समझमें नहीं आता । देह-त्यागके समयकी इसकी अन्तिम वासना भी [जो कि आगामी प्रारब्धकी मूल निर्णायिका होती है] कोई सहायता नहीं देती । वह वासना भी केवल देहकी स्मृति—देह रखनेकी इच्छा है । ऐसी अवस्था आनेपर चित्रगुप्तके पास एक ही उपाय है, वे अपने स्वामीके सम्मुख उपस्थित हों ।

धर्मराजने चित्रगुप्तसे उस जीवका कर्मलेख लिया और उसे लगभग बिना पढ़े ही उनके आगामी प्रारब्धके तीनों कोष्ठक भर दिये । चित्रगुप्तने देखा जातिके कोष्ठकमें लिखा है—मनुष्य-श्वपच, आयुके कोष्ठकमें उदारतापूर्वक १०२ की संख्या है; किंतु भोग-भोगका विवरण देखकर चित्रगुप्तको लगा कि आज संयमनीपति विशेष क्रुद्ध हैं ।

चित्रगुप्त कभी नहीं समझ सके कि जीवका जो कर्म-विधान उनको इतना जटिल लगता है, धर्मराज कैसे उसका निर्णय बिना एक क्षण सोचे कर देते हैं । यम एक मुख्य भागवताचार्य हैं और भक्तिका—भक्तिके अधिष्ठाताका रहस्य जाने बिना, उसकी कृपाकोरकी प्राप्तिके बिना कर्मका—धर्मा-धर्मका ठीक-ठीक रहस्य-ज्ञान नहीं होता, यह बात चित्रगुप्तजी नहीं समझेंगे । वे तो कर्मके तत्त्वज्ञ हैं और कर्माकर्मकी कसौटीपर ही सब कुछ परखना जानते हैं; किंतु जब उनकी कसौटी उन्हें उलझनमें डाल देती है—यमराज कर्मके परम निर्णायक हैं । उनके निर्णयकी कहीं अपील नहीं, अतः वे बिना हिचकके निर्णय कर देते हैं । यह चित्रगुप्तजीके चित्तका समाधान है; किंतु धर्मके निर्णायकको आवेशमें तो निर्णय नहीं करना चाहिये ।

'यह अभागा जीव !' यमपुरीके विधायक, यमराजके मुख्य सचिव चित्रगुप्त—उन्हें किसी जीवको नरकका आदेश सुनाते किसीने हिचकते नहीं देखा और आज वे क्षुब्ध हो रहे थे—'कैसे सहन कर सकेगा यह इतने दारुण दुःख ? इतना दुःखदायी विधान एक असहाय प्राणीके लिये !'

'संयमनीके मुख्य सचिव प्राणीके सुख-दुःखके दाता कबसे हो गये ?' चित्रगुप्त चौंक उठे । उन्होंने अपनी चिन्तामें देखा ही नहीं था कि देवर्षि नारद उनके सामने आ खड़े हुए हैं । उन्होंने प्रणिपात किया देवर्षि !

'धर्मराजको स्रष्टाने केवल जाति, आयु और भोगके निर्णयका अधिकार दिया है ।' देवर्षिने अपना प्रश्न दुहराया—'स्थूल शरीरतक ही कर्म अपना प्रभाव प्रकट कर सकते हैं, किंतु देखता हूँ; धर्मराजके महामन्त्री अब जीवके सुख-दुःखकी सीमाके स्पर्शकी स्पर्धा भी करने लगे हैं ।'

'ऐसी धृष्टता चित्तमें न आवे आप ऐसा अनुग्रह करें ।' चित्रगुप्तने दोनों हाथ जोड़े—'किंतु इतना दारुण भोग प्राप्त करके भी जीव दुखी न हो, क्या सम्भव है ?'

'असम्भव तो नहीं है। शरीरकी व्यथा प्राणीको दुखी ही करे—आवश्यक नहीं है।' देवर्षिने चित्रगुप्तजीके सम्मुख पड़ा कर्म-विधान सहज उठा लिया।

'स्वयं धर्मराजने यह विधान किया है!' चित्रगुप्त डरे। परम दयालु देवर्षिका क्या ठिकाना, कहीं इतना कठोर विधान देखकर वे रुष्ट हो जायँ—उनके शापको स्वयं स्रष्टा भी व्यर्थ करनेमें समर्थ नहीं होंगे।

'कुब्ज, कुरूप, बधिर, मूक, शैशवसे अनाथ, अनाश्रय, उपेक्षित, उत्पीड़ित, मान-भोग-वर्जित, नित्य देहपीड़ा-ग्रस्त मरुस्थल-निर्वासित...।' देवर्षिके साथ डरते-डरते चित्रगुप्त भी उस जीवके भोगके कोष्ठकमें भरे गये विधानको पुनः पढ़ते जा रहे थे मन-ही-मन। कहीं तो उसमें कुछ सुख-सुविधा मिलनेका कोई संयोग सूचित किया गया होता।

'अतिशय दयालु हैं धर्मराज।' चित्रगुप्तकी आशाके सर्वथा विपरीत देवर्षिके मुखसे उल्लास व्यक्त हुआ—'इस प्राणीको एक साथ स्वच्छ कर देनेकी व्यवस्था कर दी उन्होंने। विपत्ति तो वरदान है श्रीनारायणका।'

अब भला इन ब्रह्मपुत्रसे कोई क्या कहे और इन्हें ही इतना अवसर कहाँ कि किसीकी बात सुननेको रुके रहें। चित्रगुप्तके कर्म-विधानका पोथा पटका उन्होंने और उनकी वीणाकी झंकार दूर होती चली गयी।

× × ×

महाराजाकी सवारी निकली थी नगर-दर्शन करने। यह भी कोई बात है कि उनके सामने राजपथपर कोई कुबड़ा, गूँगा, काला, कुरूप चाण्डाल बालक आ जाय। राजसेवकोंने उसे पीट-पीट कर अधमरा कर दिया और घसीट-कर मरे कुत्तेके समान दूर फेंक दिया।

'कौन था यह?' महाराजाने पूछा।

'एक श्वपचाका पुत्र!' मन्त्रीने उत्तर दे दिया।

'इसके अभिभावक इसे पथसे दूर क्यों नहीं रखते?' महाराजाका क्रोध शान्त नहीं हुआ था।

'इसका कोई अभिभावक नहीं।' कुछ देर लगी पता लगानेमें और तब मन्त्रीने प्रार्थना की—'माता-पिता इसके तब मर गये, जब यह बहुत छोटा था, अब तो यह इसी प्रकार भटकता रहता है।'

'नगरका अभिशाप है यह!' महाराजाको कौन कहे कि गर्वके शिखरसे नीचे आकर आप देखें तो वह भी आपके समान ही सृष्टिकर्ताकी कृति है; किंतु धन, अधिकारका मद मनुष्यकी विवेक-दृष्टि नष्ट कर देता है। महाराजने आदेश दे दिया—'इसे दूर मरुस्थलमें निर्वासित कर दिया जाय। राजधानीमें इतनी कुरूपता नहीं रहनी चाहिये।'

छोटा-सा अबोध बालक। वैसे ही वह दर-दरकी ठोकरें खाता फिरता था। कूड़ेके ढेरपरसे छिलके उठाकर उदरकी ज्वाला शान्त करता था। लोग दुत्कारते थे। बच्चे पत्थर मारते थे। वृक्षके नीचे भी रात्रि व्यतीत करनेका स्थान कठिनतासे पाता था और अब उसे नगरसे भी निर्वासित कर दिया गया। हाथ-पैर बाँधकर ऊँटपर लादकर एक राजसेवक श्वपच उसे मरुभूमिमें ले गया और वहाँ उसके हाथ-पैर उसने खोल दिये।

अङ्गमें लगे घाव पीड़ा करते थे। मरुस्थलकी रेत तपती थी और ऊपरसे सूर्य अग्निकी वर्षा करते थे। आँधियाँ मरुभूमिमें न आयेंगी तो आयेंगी कहाँ; लेकिन मृत्यु उस बालकके समीप नहीं आ सकती थी। उसके भाग्यने उसे जो दीर्घायु दी थी—कितनी बड़ी विडम्बना थी उसकी वह दीर्घायु।

जब प्याससे वह मूर्छित होनेके समीप होता, कहीं-न-कहीं रेतमें दबा मतीरा उसे मिल जाता। खेजड़ीकी छाया उसे मध्याह्नमें झुलस जानेसे बचा देती थी। मतीरा ही उसकी क्षुधा भी शान्त करता था। वैसे उसे मरुस्थलके मध्यमें एक छोटा जलाशय मिल गया बहुत शीघ्र और वहाँ कुछ खजूरके वृक्ष भी मिल गये, किंतु खजूर बारहमासी फल तो नहीं है।

इस भाग्यहीन बालकका स्वभाव विपत्तियोंको भोगते-भोगते विचित्र हो गया था। बचपनमें तो वह रोता भी था; किंतु अब तो जब कष्ट बढ़ता था तो वह उलटे हँसता था—प्रसन्न होता था। अनेक बार उसे मरुस्थलके डाकू मिले और उन्होंने जी भरकर पीटा। वह उस पीड़ामें खूब हँसा—मानो उसे पीड़ामें सुख लेनेका स्वभाव मिल गया हो।

वह क्या सोचता होगा? वह जन्मसे मूक और बधिर था। शब्दज्ञान उसे था नहीं। अतः वह कैसे सोचता होगा, यह मैं नहीं समझ पाता हूँ। लेकिन वह कुछ काम करता था। दिन निकलता देखता तो सूर्यके सम्मुख पृथ्वीपर बार-बार सिर पटकता। आँधी आती तो उसे भी इसी प्रकार प्रणाम करता और कभी आकाशमें कोई मेघखण्ड आ जाय

तो उसे भी । खेजड़ीके वृक्षको, जलाशयको और यदि कभी कोई दस्युदल आ जाय तो उन लोगोंको तथा उनके ऊँटोंको भी वह इसी प्रकार प्रणिपात किया करता था ।

दूसरा काम वह प्रायः प्रतिदिन यह करता कि खेजड़ीकी एक डाल तोड़ लेता और विभिन्न दिशाओंमें दूर-दूरतक एक निश्चित दूरीपर उसके पत्ते टहनियाँ तबतक डालता जाता—जबतक मध्याह्नकी धूप उसे छायामें बैठ जानेको विवश न कर देती । अनेक बार उसके डाले इन पत्तोंके सहारे मरुस्थलमें भटके यात्री एवं दस्यु उसके जलाशयतक पहुँचे थे। अनेक बार उन दस्युओंने उसे पीटा था । बहुत कम बार किसी यात्रीने उसे रोटीका टुकड़ा खानेको दिया । लेकिन उसने खेजड़ीके पत्ते डालनेका काम केवल तब बंद रक्खा, जब वह ज्वरसे तपता पड़ा रहता था ।

मरुस्थलमें एकाकी, दिगम्बर, असहायप्राय भूख-प्याससे संतप्त रहते वर्ष-पर-वर्ष बीतते गये उसके । बहुत बीमार पड़ा और बार-बार पड़ा; किंतु मरना नहीं था, इसलिये जीवित रहा । बालकसे युवा हुआ और इसी प्रकार वृद्ध हो गया । उसकी देहमें हड्डियों और चमड़ेके अतिरिक्त और था भी क्या । अनेक बार यात्री उसे प्रेत समझकर डरे थे ।

दुर्भाग्य ही तो मिला था उसे । एक अकालका वर्ष आया और वह नन्हा जलाशय सूख गया जो वर्षोंसे उसका आश्रम रहा था । खेजड़ीमें पत्तोंके स्थानपर काँटे रह गये । उसे वह स्थान छोड़कर मरुस्थलमें भटकना पड़ा ।

अंधड़से रेत नेत्रोंमें भर गयी । प्यासके मारे कण्ठ सूख गया । गलेमें काँटे पड़ गये और अन्ततः वह मूर्छित होकर गिर पड़ा ।

सहसा आकाशमें उत्तङ्क मेघ प्रकट हुए जो केवल राजस्थानकी मरुभूमिमें कभी-कभी—कुछ शताब्दियोंके अन्तरसे प्रकट होते हैं । बड़ी-बड़ी बूँदोंकी बौछारने उसके संतप्त शरीरको शीतल किया । उसने नेत्र खोलनेकी चेष्टा की; किंतु उनमें रेत भर गयी थी । देहमें भयंकर ताप था । वह जीवनमें पहिली बार वेदनासे चीखा—मूककी अस्पष्ट चीत्कार उसके कण्ठसे निकली ।

उत्तङ्क मेघ उसके लिये तो नहीं आये थे । मरुकी राशिमें शतियोंसे समाधिस्थ महर्षि उत्तङ्क उठे थे समाधिसे । उनकी तृषा शान्त करनेके लिये मेघ आते हैं । महर्षिने अपने समीपसे आयी वह चीत्कार-ध्वनि सुनी और आगे बढ़ आये ।

कृष्णवर्ण, कुब्ज, श्वेत केश, कंकालमात्र एक मानवाकार प्राणी रेतमें पड़ा था । अब भी वह अपने नेत्रोंसे रेत ही निकालनेके प्रयत्नमें था । महर्षिकी दृष्टि पड़ी । वे सर्वज्ञ—उन्हें कहाँ सूचित करना था कि उनके सम्मुख पड़ा प्राणी बोलने और सुननेमें असमर्थ है । लेकिन महर्षिका संकल्प तो वाणीकी अपेक्षा नहीं करता । उनकी अमृत दृष्टि पड़ी उस सम्मुखके प्राणीपर और फिर वे अपनी साधना-भूमिकी ओर मुड़ गये ।

× × ×

कुछ मास [क्योंकि देवताओंका दिन मनुष्योंके छः महीनेके बराबर होता है और उतनी ही बड़ी होती है उनकी रात्रि] व्यतीत हुए होंगे, चित्रगुप्तजीके और एक दिन पुनः देवर्षि नारद संयमनी पधारे ।

'आपके उस अतिशय भाग्यहीन जीवकी अब क्या स्थिति है ?' धर्मराजका सत्कार स्वीकार करके जाते समय देवर्षिने सहसा चित्रगुप्तसे पूछ लिया—'जीवनमें भाग्यका भोग उनको कितना दुखी कर सका, यह विवरण तो आपके समीप होगा नहीं ।'

'आपका अनुग्रह जिसे अभय दे दे, कर्मके फल उसे कैसे उत्पीड़ित कर सकते हैं ?' चित्रगुप्तने नम्रतापूर्वक बताया—'वे महाभाग देहकी पीड़ा, अभाव, असम्मानसे प्रायः अलिप्त रहे ।'

'अनुग्रह तो उनपर किया था धर्मराजने ।' देवर्षिने सहजभावसे बतलाया—'भोग-विवर्जित करके संयमनीके स्वामीने उन्हें अनेक दोषोंसे सुरक्षित कर दिया था । आपत्तियोंने उन्हें निष्काम बनाया । विपत्तिका वरदान पाये बिना प्राणीका परित्राण कदाचित् ही हो पाता है ।'

'महर्षि उत्तङ्कके अनुग्रहने उनके निष्कलुष वासनारहित चित्तको आलोकित कर दिया ।' चित्रगुप्तजीने बताया—'अब हमारे विवरणमें केवल इतना ही है कि उनका परम पवित्र देह धरा देवीने अपनी मरुराशिमें सुरक्षित कर लिया है ।'

जिसके सम्बन्धमें श्रुति कहती है—

'न तस्य प्राणाद्द्योत्क्रामन्ति तत्रैव प्रविलीयन्ते ।'

उस मुक्तात्माके सम्बन्धमें इससे अधिक विवरण चित्रगुप्तजीके समीप हो भी कैसे सकता है ?

पाकिस्तानी षड्यन्त्र

[सत्रहवर्षीय देशघातक, जातिघातक, धर्मघातक गुप्त षड्यन्त्रका रहस्योद्घाटन]

(लेखक—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)

भारतमें मुस्लिम-अमुस्लिम समस्या विभाजनसे पूर्व जितने अंशोंमें केवल एक साम्प्रदायिक समस्या थी, विभाजनके बाद उतने ही अंशोंमें दो राष्ट्रोंकी समस्या भी बन गयी है—उतने ही अंशोंमें जितने अंशोंमें यहाँके मुस्लिमनिवासी अपने आपको भारतकी अपेक्षा पाकिस्तानके अधिक निकट अनुभव करते हैं—तथा उन दो राष्ट्रोंकी समस्या जिनके परस्पर सम्बन्धोंमें प्रारम्भसे ही जो शत्रुता है वह उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है । और इन दो समस्याओंके मिल जानेसे एक और एक ग्यारह समस्याओंवाली भयंकर स्थिति हो गयी है जिसके सामने प्रधान मन्त्री पण्डित नेहरू-तक अपनेको असहाय-जैसा अनुभव कर रहे हैं—वह नेहरू जो सत्रह वर्षसे अधिनायक-जैसे प्रभावके साथ इस समस्या-को सुलझानेमें अपने ढंगसे प्रयत्नशील रहे हैं । ऐसी स्थितिमें अब समय आ गया है कि कम-से-कम अठारह वर्ष पुराने पाकिस्तानी षड्यन्त्रका रहस्योद्घाटन कर दिया जाय ताकि उसकी पृष्ठभूमिमें प्रतिभा और त्यागके धनी देशभक्त सुलझा सकें ।

इन पंक्तियोंके द्वारा मैं समस्त एकतावादी देशभक्तोंका ध्यान आज पहली बार पाकिस्तानी नेताओं तथा साहित्यकारों-के एक बहुत पुराने तथा बहुत भयंकर षड्यन्त्रकी ओर आकर्षित कर रहा हूँ जो एकदम खुला होनेपर भी आसुरी मायाके कारण अबतक पूर्णरूपसे गुप्त रहा है । यह षड्यन्त्र, जो पाकिस्तानके जन्मकालसे ही चल रहा है, मज़हबके नामपर भारतवासी मुसल्मानोंमें देशद्रोहकी भावनाओंको उत्पन्न करनेका दुष्प्रयत्न है ।

षड्यन्त्र यह है कि विभाजनके समय भारतसे जो मुसल्मान पाकिस्तान गये, उनका नाम 'महाजर' रक्खा गया जो इस्लामके इतिहासका वह शब्द है जिसका प्रयोग इस्लामके प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद साहबके लिये उस समय किया गया था जब वे अपने साम्प्रदायिक विरोधियों (पुराने सम्प्रदायावलम्बियों) के कारण अपनी मातृभूमि मक्का छोड़कर कुछ समयके लिये मदीना चले गये थे । उनके इस प्रयाणको 'हिज्र'* या 'हिजरत' कहा गया था और उसी समयसे हिजरी सन् चल रहा है । परंतु उनका यह प्रयाण वापसी सैनिक अभियानकी तैयारीके लिये था, जो बादमें किया गया और इस्लामके प्रवर्तकने मक्काके देवस्थान काबामें स्थित ३६० देवमूर्तियोंका ध्वंस कर उसे विशुद्ध मस्जिदमें परिणत किया । इस मक्का-विजयमें मक्का-वासी मुस्लिम स्वभावतः अपने पैगम्बरके सहयोगी थे । सर्वविदित तथ्य है कि हज़रत साहबकी 'हिजरत' में तथा भारतसे गये मुसल्मानोंकी 'रुखसती' (विदाई) में आकाश-पातालका अन्तर है । अतः दोनोंको समान या एक ही वस्तु बताना जान-बूझकर किया गया एक भयंकर षड्यन्त्र है । प्रश्न है कि पाकिस्तानी नेता जिस भावी भारत-पाक-युद्धकी रोज बातें करते हैं, उसको छेड़नेके लिये क्या वे इसी विश्वासपर तुले हैं कि भारतसे गये मुसल्मान उसी मज़हबी (साम्प्रदायिक) जोशसे जिहाद (मज़हबी युद्ध) करेंगे तथा भारतमें वापस लौटे हुए तथा पहलेसे बसे हुए उनके कितने ही सगे-सम्बन्धी तथा हममज़हब उस जिहादमें उनकी भरपूर सहायता करेंगे (क्योंकि 'जिहाद' इस्लामके पाँच आधार-भूत तत्त्वोंमेंसे एक है) ?

यह एक भयंकर साम्प्रदायिक-राजनीतिक षड्यन्त्र है जिसकी जड़ें बहुत गहरी तथा व्यापक हैं । विभाजनोत्तर अवशिष्ट भारतकी अखण्डताकी रक्षाके लिये हमें पृथक्त्ववाद-के इस प्रकारके विषवृक्षोंको अवश्य तथा शीघ्र और सदाके लिये उखाड़ फेंकनेके लिये कृतसंकल्प होना है ।

(अप्रकाशित 'एकताके प्रतीक राजर्षि टंडन'से)

---

* हिज्र—अस्थायी वियोग; महाजर—अस्थायी वियोगी

अर्जुनकी दुविधा

(अनुवादक—श्रीवा० रा० वझे बी० ए०)

युद्ध या शान्ति ?

पाण्डुराज एवं धृतराष्ट्रके लड़के हस्तिनापुरमें द्रोणाचार्यके शस्त्रविद्या-विद्यालयमें पढ़ रहे थे।

एक बार अनायास ही अर्जुनने कर्णसे पूछा—'कर्ण! युद्ध अच्छा है या शान्ति ?'

'शान्ति' कर्णने उत्तर दिया।

'तुम यह कैसे कह सकते हो ?' अर्जुनने पुनः प्रश्न किया। कर्णने उत्तर दिया—'मान लो यदि कल युद्ध हो जाता है तो मैं तुम्हें ऐसी सजा दूँगा कि उससे तुम्हें तो दुःख होगा ही, साथ-ही-साथ मेरा हृदय कोमल होनेके कारण मुझसे भी वह देखा नहीं जायगा। अर्थात् हम दोनों दुखी होंगे। इसलिये मैं कहता हूँ कि शान्ति अच्छी।'

अर्जुनने कहा—'देखो कर्ण ! मैं तुम्हें हम दोनोंके बारेमें नहीं पूछ रहा हूँ। सर्वसाधारण रूपसे युद्ध श्रेष्ठ है या शान्ति—इस सम्बन्धमें तुम्हारे जो विचार हों, मुझे बताओ।'

कर्ण बोला—'यह मैं एकाएक नहीं बता सकता।'

इस बातसे अर्जुनको क्रोध आ गया और मन-ही-मन उसने कर्णको मार डालनेका निश्चय किया। फिर अर्जुन अपने गुरु द्रोणाचार्यके पास गया और हाथ जोड़कर नम्रतासे उनसे यही प्रश्न किया। इसपर द्रोणाचार्यने हँसकर कहा—'बेटा ! युद्ध श्रेष्ठ है।'

'लेकिन क्यों ?' अर्जुनने पूछा।

द्रोणाचार्यने कहा—'देखो अर्जुन ! युद्धमें हम शत्रुको मारकर या पराजित कर सम्पत्ति तो प्राप्त करते ही हैं, साथ-ही-साथ कीर्ति- एवं विजय भी प्राप्त करते हैं। परंतु ये बातें शान्तिके समय असम्भव-सी हैं।'

पश्चात् अर्जुन भीष्माचार्यके पास गया और बोला, 'युद्ध और शान्तिमें कौन-सा श्रेष्ठ है ?'

भीष्माचार्यने उत्तर दिया 'बेटा अर्जुन ! शान्ति हर स्थितिमें श्रेष्ठ है।'

अर्जुनने कहा—'सो कैसे ?'

भीष्माचार्यने हँसकर कहा—'युद्धमें अधिक-से-अधिक क्षत्रिय-वंश समृद्ध होगा, किंतु शान्तिपूर्ण स्थितिमें सारा संसार समृद्ध रहेगा। अतः शान्ति ही श्रेष्ठ है।'

परंतु अर्जुन इससे सहमत नहीं हुआ। उसकी शंकित मुद्रा देखकर भीष्माचार्य बोले—'लेकिन अर्जुन ! तुम यह मुझसे क्यों पूछ रहे हो ?'

अर्जुन बोला—'उसका कारण यह है कि जबतक शान्ति है, तबतक धनुर्विद्यामें कर्ण मुझसे श्रेष्ठ माना जायगा और मैं उससे कम शक्तिशाली समझा जाऊँगा। परंतु यदि युद्ध होगा तो संसारके सम्मुख सत्य प्रकट हो जायगा।'

भीष्माचार्यने कहा—'बेटा अर्जुन ! संसारमें धर्म सदैव श्रेष्ठ है। फिर वह युद्ध हो या शान्ति। अतः तुम कर्णके प्रति अपना क्रोध त्याग दो। अखिल मानव-जाति तुम्हारे लिये बन्धु-भगिनीके समान है। संसारमें प्रत्येकको एक दूसरेसे प्रेम करना चाहिये तथा बन्धुत्व एवं सहिष्णुताका संगोपन करना चाहिये। इसीमें मानव जातिका कल्याण है। अतः सबसे प्रेम करना सीखो।'

यह कहते समय वृद्ध पितामह भीष्माचार्यकी आँखोंसे अनजानमें दो आँसू नीचे टपक पड़े।

कुछ दिनों पश्चात् व्यासमुनि घूमते-घामते अचानक हस्तिनापुर आये, तब अर्जुनने प्रश्न किया—'मुनिवर्य ! संसारमें क्या श्रेष्ठ है, युद्ध या शान्ति ?'

व्यास महर्षिने सोचकर कहा—'सच कहा जाय तो दोनों बातें अच्छी हैं और दोनों ही बातें खराब हैं। परंतु यह इस बातपर निर्भर है कि हम उसका उपयोग किसलिये कर रहे हैं।'

अर्जुनको मुनिवर्यका वह दुविधात्मक उत्तर जँचा नहीं।

कुछ वर्षों बाद पाण्डवोंके अज्ञातवासके समय श्रीकृष्ण पाण्डवोंसे मिलने आये। उस समय अर्जुनने श्रीकृष्णसे प्रश्न किया—

'भगवन्! एक बातकी शङ्काका समाधान कीजिये। संसारमें क्या श्रेष्ठ है? युद्ध या शान्ति?'

श्रीकृष्णने कहा—'अर्जुन! वर्तमान परिस्थितिमें शान्ति अच्छी है; क्योंकि युद्ध करनेसे निभ नहीं सकेगा अतएव मध्यस्थता करके शान्ति स्थापित करनेके लिये मैं हस्तिनापुर जा रहा हूँ। युद्ध एवं शान्तिकी श्रेष्ठता प्राप्त परिस्थितिपर निर्भर है।'

यह सुनकर अर्जुन संतुष्ट हो गया। व्यास महर्षिकी बातका मर्म अब उसके ध्यानमें आ चुका था।

शिक्षामें धर्मनिरपेक्षता या धर्मविमुखता?

(लेखक—प्राध्यापक श्री जे० पी० पाण्डेय एम एस्०-सी०, बी० एड०, एल्-एल्० बी०, बिशारद)

'धर्म' और 'धार्मिक'—ये पुनीत शब्द मानो आज शिक्षालयके शब्दकोशसे लुप्त ही हो गये और यदि इन्हें कोई शब्दकोशसे लुप्त हुए न माने तो उसे कम-से-कम इस बातपर अवश्य विश्वास करना होगा कि ये शब्द जहाँ 'कल' शिक्षा-व्यवस्थाके इर्द-गिर्द ताने-बानेकी तरह लिपटे-चिपटे हुए थे, वहाँ 'आज' उस व्यवस्थामें इनका मानो कोई मूल्य ही नहीं रहा—आजकी शिक्षा-व्यवस्था तथा शिक्षालयोंमें व्याप्त वातावरणको देखकर कुछ ऐसा महसूस होने लगा है, जैसे शिक्षासे इनका कोई सरोकार नहीं—मानो शिक्षा एकदम इनसे बाहरकी कोई वस्तु है। भारतका अतीत जो स्वर्णाक्षरोंमें देदीप्यमान है और जहाँ समय-समयपर कई महान् आत्माओंने जन्म लेकर सम्पूर्ण मानवजीवनको—गर्भाधानसे लगाकर अन्त्येष्टितक—धर्म और धार्मिक सुकृत्योंसे अत्यन्त जकड़कर कस दिया था, वहाँ आज अधार्मिक प्रवृत्तियों और झूठे दम्भों तथा मिथ्या आचरणोंसे वही मानवजीवन इतना जीर्ण-शीर्ण और जर्जरित हो उठा है कि आज उसकी भीतरी आत्मा नैतिक पतनसे दबी, कराहती हुई उस आस्था और आशासे भरे अतीतके जीवनको पुनः प्राप्त करनेके लिये अंदर-ही-अंदर तड़प रही है। अग्निका धर्म जलना है, प्रज्वलित होना है। यदि वह अपने धर्मसे विघटित हो जाय तो फिर उसे अग्नि कौन कहेगा? मानवजीवन और पशुजीवनमें यदि कोई अन्तर है तो वह धर्माचरणका है; पशु वास्तवमें इसीसे इतना निकृष्ट प्राणी होता है कि उसको 'धर्म' सम्बन्धी कोई ज्ञान नहीं होता।

यह हमारा बड़ा सौभाग्य है कि यह पुण्य पवित्र भारतीय भूमि जहाँ शस्य-श्यामला एवं उर्वरा रही है, वहाँ यह विविध धर्म तथा मतमतान्तरकी जन्मभूमि भी रही है। उस पुरातन आर्य-कालमें हिंदू-धर्म यहाँ प्रस्फुटित तथा पल्लवित हुआ; उस समयके समाजशास्त्रियोंने समाजको चार वर्णाश्रमोंमें विभाजित कर प्रत्येक वर्ण-विशेषके कर्तव्योंको परिभाषित किया। उस अगोचर, अनन्त, निराकार, सर्वकालीन और सर्वशक्तिमान् परमात्माके स्वरूपको उपलब्धकर अन्तमें उसीमें समा जानेके विधि-प्रदत्त अगम्य ईश्वरीय विधानको स्पष्ट किया। बड़े-बड़े ख्यातिप्राप्त ऋषि-मुनियों तथा तपस्वियोंने अपने जप-तपद्वारा इस भौतिक देहको महान् कष्ट देकर जनसाधारणके सम्मुख मानवजीवनके मूल्यों एवं उसके महत्त्वको बड़े-बड़े ग्रन्थ रचकर शब्दबद्ध किया।

फिर जमाना बदला, मनुष्य धर्मच्युत होने लगे। उनकी दानवीय वृत्ति उभर आयी तब जैनधर्म और बुद्धधर्म—इन नये नामोंके साथ, नये विचारों और नये विश्लेषणोंमें समेटा-लिपटा वही सनातनधर्म नयी ही प्रकारसे परिभाषित होकर प्रस्फुटित हुआ, जिसकी लहर भारततक ही सीमित नहीं रही, पर दूर-दूर लंका, जापान, चीन और मध्य एशियातक पहुँची। वे दिन कितने अच्छे, सुवासित एवं सुन्दर रहे होंगे, जब बौद्धधर्मको राजकीय धर्म घोषित कर 'राज्य' जैसी धर्म-निरपेक्ष संस्थाने भी इसके प्रसार और प्रचारमें कोई कसर उठा न रक्खी थी—राज्यका प्रत्येक कार्य धर्मकी खरी

कसौटीपर कसा जाता था। यद्यपि शिक्षाव्यवस्था उस समय इतनी मजबूत एवं दृढ़ न थी, फिर भी धार्मिक ग्रन्थोंका पढ़ना और उनपर मनन कर आचरण करना तथा धर्मके मूल तत्त्वोंको जनसाधारणतक पहुँचाना प्रत्येक पढ़े-लिखे व्यक्तिका कर्तव्य समझा जाता था।

देशने फिर करवट ली—अत्यधिक धार्मिक श्रद्धा तथा शिक्षा-प्रसारकी समुचित व्यवस्थाके अभावसे अधार्मिक प्रवृत्तियाँ जहाँ-तहाँ उभड़कर समाजके सामने आने लगीं। परिणामस्वरूप भारतीय समाजमें फूट और आपसी वैमनस्य तथा कटुता बढ़ने लगी। फिर मध्यकालीन युगमें मुसल्मानोंका आगमन हुआ, वे भी अपने साथ अपना मुस्लिमधर्म लेकर आये। यहाँ मुस्लिम शासकोंके द्वारा वही मुस्लिम मजहब राजकीय धर्म बना। वैसे अन्य प्राचीन धर्म और धर्मसंस्थापक पूर्णरूपसे भारतीय तो थे ही; पर उनके द्वारा संस्थापित नये नामोंसे सम्बोधित ये नये धर्म लगते थे नये-नये, पर ये वास्तवमें उसी पुरातन हिंदूधर्मके रूपान्तर ही—इसीलिये ये धर्म यहाँपर वहाँकी हिंदू-संस्कृतिमें घुल-मिल गये; पर यह मुस्लिम धर्म, जिसकी संस्कृति ही अलग थी, यहाँकी परिस्थितियों तथा धार्मिक भावनाओंमें न जम सका। इसी कारण लाख प्रयत्न करनेपर भी इसके माननेवालोंकी जमात अलग ही रही।

फिर धीरे-धीरे क्रिश्चियन धर्मका आगमन हुआ। विदेशी शासकोंका यह धर्म उतना कट्टर और कठोर न था। इसमें उदारताके साथ अन्य लोगोंको तुरंत ही क्रिश्चियन बना देनेका विधान और छूट होनेसे हिंदू-धर्मकी कठोरता और अत्यधिक स्वच्छताके कारण कई क्षुब्ध हिंदूलोग क्रिश्चियन बनने लगे—और फिर उनको ऊपरसे कई राजकीय प्रलोभन भी मिल जाते थे।

अस्तु, कुछ भी हो, आर्यकालसे लगाकर आजतक भारतीय जनता सामूहिकरूपसे किसी-न-किसी धर्ममें बँधी अवश्य अनुभव करती रही—भले ही भारतीय समाज इन कई धर्मों तथा धार्मिक गुटोंमें अलग-अलग विभाजित क्यों न हो गया था। पर फिर भी उनकी शालाएँ अपने-अपने गुटके अनुसार धार्मिक शिक्षाकी व्यवस्था करती थीं। हिंदुओंके बच्चे पाठ-शालाओंमें, मुसल्मानोंके मकतबोंमें तथा ईसाइयोंके मिले-जुले स्कूलोंमें जहाँ एक ओर पढ़ना-लिखना सीखते थे, वहाँ दूसरी ओर धार्मिक ग्रन्थोंका पठन-पाठन भी आवश्यक समझा जाता था। उन बालकोंसे न केवल यही अपेक्षित था कि वे अपने धर्म-ग्रन्थोंकी सूक्तियोंको कण्ठस्थ करें, वरं उनसे यह भी पूर्ण आशा की जाती थी कि उन सूक्तियोंका वे अपने दैनिक जीवनमें कितना परिपालन करते हैं ? उनके जीवनकी शुद्धता, पवित्रता तथा नैतिकता उनके हर चारित्रिक व्यवहार-में—उनके हर आचरणमें झलकती थी। अनुशासन-सम्बन्धी कोई समस्या ही नहीं थी—समाजमें पूर्ण व्यवस्था थी। लोग अपने-अपने धर्मको जानते थे तथा स्वेच्छासे उसका पालन करते थे। उनके जीवनमें सात्त्विकता थी, मिठास थी, एक दूसरेके दुःख-दर्दको वे जानते थे एवं उसका निराकरण करना सभी अपना कर्तव्य समझते थे।

विद्यार्थियोंको भी उस 'सत्ता' में विश्वास था। 'गोविन्द' के प्रति सच्ची लगन होती थी। अपने गुरुओंमें श्रद्धा और विश्वास था—उनका सम्मान और आदर करना वे अपना पवित्र कर्तव्य समझते थे; यही नहीं, वे गुरुओंको गोविन्दसे भी बढ़कर मानते थे। उनकी हर बातपर विश्वास प्रकट करते थे। यद्यपि शालाएँ प्रायः गुरुओंके घरोंतक ही सीमित थीं तब भी वे अपना मानसिक तथा शारीरिक विकास पूरी तौरपर कर सकते थे। शिष्टता और सभ्यता उनमें कूट-कूटकर भरी होती थी। समाजमें कहीं भी उच्छृङ्खलताके तत्त्व वर्तमान न थे। लोगोंमें भगवान्‌का भय बना रहता था। पाप और पुण्यको वे समझते थे—शरीरको नश्वर मानकर आत्माके अमरत्वमें पूरी आस्था रखकर मृत्युके बाद स्वर्गमें जा बसनेकी तीव्र भावना उन लोगोंमें विद्यमान थी। शालाएँ तथा शालीय पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें सभी धार्मिक तथ्योंपर आधारित था—यही नहीं, राम-कृष्ण, सीता-सावित्री, सत्यवान-सिद्धार्थ आदि अनेक नरश्रेष्ठोंके आदर्श जीवनको उदाहरणार्थ पाठ्यपुस्तकोंमें प्रदर्शित किया जाता था। विद्यार्थी उन जीवन-कहानियोंसे न केवल प्रेरणा ही पाते थे, पर दूने जोश एवं उत्साहसे सुन्दर जीवन जीनेको सदा उत्साहित भी रहते थे। धर्म उस समयके मानवजीवनके प्रत्येक छोटे-से-छोटे व्यापारमें प्रवेश पाता था। घरपर बालकके जन्म लेनेके अवसरसे लगाकर उसके जीवनपर्यन्त कई धार्मिक संस्कारोंसे समय-समयपर उसको सुसंस्कृत किया जाता था। बाहर मन्दिरों तथा सत्कथाओंके बखानोंसे ओतप्रोत धार्मिक वातावरणका तीव्र प्रभाव उन सुकोमल बालकोंके मस्तिष्कोंमें अङ्कित हो जाता था—परिणामतः बालक मानवीय गुणोंको अपने जीवनमें पनपते—प्रस्फुटित होते देखते थे। शिक्षा भी

वास्तविक ज्ञानका स्वरूप लेकर अन्तमें धार्मिक प्रवृत्तियोंको और उभाड़नेमें बहुत सहायक होती थी। धर्मविमुखता एक अपराध समझा जाता था और समाज ऐसे व्यक्तिको दण्ड देता था जो समाजमें प्रचलित और सम्मानित धार्मिक भावनाओंको कारण-अकारण ही ठेस पहुँचाता था या उन भावनाओंके विपरीत आचरण करता था। विवाह भी मनुष्यका एक पवित्र धार्मिक संस्कार था। इसके भी अनेकों विधान निश्चित किये गये। कई नियम बनाकर इसको भी बड़ा कठोर कर दिया गया, जिससे यह सम्भव न हो कि मनुष्य अपनी पाशविक वासनाओंके वशीभूत होकर उस पवित्र बन्धनको भी विच्छिन्न करनेको बात-बातपर तैयार हो जाय। इससे समाजमें सुव्यवस्था थी, स्थिरता थी—एक सुन्दर संगठन था। मानसिक उलझनें न थीं। स्त्री-पुरुषमें प्रेम स्वाभाविक रीतिसे बढ़ता था, जिसको धर्मके नामपर निभाना और अन्ततक निभाना एक दूसरेका पवित्र कर्तव्य समझा जाता था। वह स्त्री हजारगुनी सौभाग्यवती और पुण्यात्मा एवं पतिव्रता समझी जाती थी, जो अपने जीवनके तीन आश्रम पूरे कर अपने पतिसे पहले स्वर्ग सिधार जाती थी। नैतिकता एवं सदाचार और धर्म-संहितापर आधारित यह समाजव्यवस्था, जो एक मिली-जुली परिवार-प्रणालीको प्रश्रय देती थी, कितनी अच्छी तथा सुदृढ़ थी कि जिसकी आज कल्पना ही की जा सकती है।

आज—आज इस बीसवीं सदीमें स्थिति बहुत ही विपरीत दृष्टिगोचर हो रही है। आज कुछ अजीबसे जीवन-मूल्य निर्धारित हो रहे हैं और दिनोंदिन इसी भारतीय भूतल-पर उच्छृङ्खलता, छल-कपट तथा धर्मविमुखताको उत्साहपूर्वक प्रश्रय मिल रहा है। चरित्रपतनकी भी कोई सीमा होती है, पर आज उसकी भी कोई सीमा नहीं रह गयी है। क्या बड़े और क्या छोटे, कुछ अजीब-सा तथा अटपटा-सा निरा पशुवत् व्यवहार करते भी न तो उस सर्वद्रष्टासे डरते हुए मालूम पड़ते हैं और न अपने आपसे ही। हाँ, माना—आज भारत आजाद है। उसमें विशुद्ध गणतन्त्रका प्रयोग सफल हुआ जा रहा है, पर जहाँ राज्यने अपने-आपको धर्मनिरपेक्ष घोषित किया, वहाँ लगा जनताने अपने-आपको धर्मविमुख हो जानेका बिगुल बजा दिया। जहाँ राज्यने कई राजनीतिक परिस्थितियोंके कारण शिक्षाको धर्मसे अछूती बना रखनेका निर्णय लिया, वहाँ जनताने समझा—धर्म-कर्मकी अब कोई जरूरत ही नहीं; उनकी पशु-प्रवृत्तिको उभड़ने-उभाड़नेका अवसर मिला। इधर राज्यने पाठ्य-पुस्तकोंसे राम-कृष्णके सच्चरित्र, सीता-सावित्रीका आदर्श जीवन-यापन तथा धार्मिक सूत्रोंको निकाल बाहर किया तो उधर समाजने इन्हें अपने पारिवारिक जीवनसे भी पूर्णरूपसे बहिष्कृत करनेकी ठान ली। विज्ञानप्रदत्त नये-नये सत्वर गतिसे चलनेवाले यातायातके साधनोंका जाल बिछा तो उनके साथ पश्चिमकी भौतिक चमचमाहट तथा भौतिक ऐश्वर्यों और भोग-विलासोंकी अतृप्त वासनाएँ भी आयीं जो सुरा-सुन्दरियोंमें जीवनका अन्तिम ध्येय समझकर उनमें ही अपने आपको खो देनेको प्रवृत्त करने लगीं—यही नहीं, चित्रपटपर नाचने-गानेवाली और अपने अङ्गों-अवयवोंका प्रदर्शन करनेवाली ये आजकी नर्तकियाँ पाशविक प्रवृत्तिको उभाड़नेमें अत्यधिक सहायक हुईं। आजकी कलियुगी सरकार जिसने केवल धन-दौलतपर, बड़े-बड़े राजकीय अधिकारी अपने मानव-जीवनको न्यौछावर करते हुए-से लगे—इनसे भरपेट अपनी आमदनी बढ़ानेमें इतनी मदान्ध हो चली कि उसे आज यह भी ध्यान नहीं आता कि ये चित्रपट-कंपनियाँ कैसी-कैसी विचित्र भारतीयतासे परे, उच्छृङ्खलताओंसे भरी और पाशविकताको पोषित करनेवाली कहानियाँ नित नयी-नयी नये-नये कामपरक नामोंसे निकाल रही हैं! इन कुछ कहानियोंके नाम तो इतने भद्दे और अश्लील-तर होते हैं कि पुत्र अपने पितासे, पुत्रियाँ अपनी माँ एवं भाइयोंसे खुलकर कह ही नहीं सकतीं और जहाँ ऐसे नामोंसे चित्र गढ़े जा रहे हैं, जिनमें नये-नये युवक एवं युवतियाँ जाते ही हैं तो फिर उनमें जाने-अनजाने उच्छृङ्खलता तथा अश्लीलताके पनप जानेमें आश्चर्य ही क्या है? शालाओंमें अंग्रेजी प्रेम-कहानियाँ पढ़ना तथा उनके चरित्रोंपर टिप्पणियाँ लिखना और चित्रपटोंमें वैसे ही उच्छृङ्खल, धर्म-कर्मसे दूर अधार्मिक चित्र देखना—यदि इनसे आजकी पौधेमें उच्छृङ्खलता और अधार्मिकता न पनपेगी तो क्या होकर रहेगा? आज राष्ट्रके सामने नैतिक पतनका प्रश्न बड़ा जटिल और उलझा-उलझा-सा मुँह फाड़े खड़ा है। बड़ा आश्चर्य है, रेलके डिब्बेमें एक सुसभ्य पढ़े-लिखे और अच्छे परिधानोंमें सजे-सजाये युवकके साथ एक भले घरकी बहन-बेटी अपने-आपको सुरक्षित नहीं समझती जितना वह गाँव-के अनपढ़ किसी व्यक्तिके साथ सुरक्षित समझ सकती है। क्यों? क्या शिक्षासे युवक इतने गिर जाते हैं? इतना उनका नैतिक पतन हो जाता है? वे इतने चरित्रहीन हो

जाते हैं ? यदि हाँ, तो उस शिक्षाको धिक्कार ! उस शिक्षालयको धिक्कार ! उस समाजको धिक्कार जो अपने-आपको सभ्य एवं पढ़ा-लिखा घोषित करता है !

आज शिक्षालयों और शिक्षकोंमें जितनी चरित्रभ्रष्टता देखी जाती है, उतनी और कहीं नहीं । स्त्री-पुरुषोंमें केवल स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध माननेवालेमें कॉलेजी पढ़े-लिखे लोग यह भूल जाते हैं कि स्त्री जहाँ एक ओर किसीकी बहिन है तो किसीकी माँ भी । यदि ऐसा ही एक-सा ही सम्बन्ध इस समाजमें प्रतिष्ठापित हो जाय तो निश्चय ही यह समाज मनुष्योंका नहीं, पशुओंका बनकर रह जायगा ।

बड़ी कठिनाई है—दर्द तो पेटमें है और आँखोंका इलाज किया जा रहा है । कुव्यवस्था तो शिक्षामें आ गयी है, जहाँ न केवल पाठ्यपुस्तकें ही दोषी हैं, पर वह सम्पूर्ण विधान—वह सम्पूर्ण व्यवस्था ही दूषित है, जिसके कारण यह रोग दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता ही जा रहा है। मनुष्यजीवन और धर्म—मानो अब दो अलग-अलग वस्तु हो गयी हैं। शिक्षाको भी धर्मसे कोई सरोकार नहीं । सुनते हैं और पढ़ते हैं कि सरकार आजकी इस उच्छृङ्खलता तथा अनुशासनहीनतासे बहुत ही चिन्तित है । तभी तो कभी वह राष्ट्रस्तरपर अनुशासनकी कई नयी-नयी योजनाएँ प्रारम्भ करती है तो कभी प्रान्तीय सरकारोंको आदेश देती है कि एन. सी. सी. ए. सी. सी. को और सख्त किया जाय । पर मैं सोचता हूँ क्या यह रोग इनसे जाता रहेगा ? एक ओर शिक्षाको धर्म-निरपेक्षताके नामपर धर्मसे अलग रक्खो, दूसरी ओर कामुकताको उभाड़नेवाली अश्लील नामोंके चित्र देखनेकी छूट दो, तीसरी ओर प्रेमपत्र लिखवानेकी शालाओंमें शिक्षा दो, चौथी ओर नवयुवक और नवयुवतियोंको एक-सी अधार्मिक शिक्षासे शिक्षित करो, पाँचवीं ओर वैसी ही शिक्षासे दीक्षित अध्यापकोंके मत्थे उन नवयुवक एवं नवयुवतियोंको स्वतन्त्रतासे छोड़ दो······तो फिर परिणाम क्या होगा ? चाहे कितनी ही अनुशासन एवं जीवनमें व्यवस्था लानेके लिये राष्ट्रीय स्तरकी योजनाएँ चला लीजिये और चाहे कितनी ही राज्य सरकारें आदेश निकाल-निकालकर शालाओंको कसती रहें, यह पाशविक और नैतिक दुराचरणका रोग बढ़ता ही जायगा।

जैसा कि इस लेखके प्रारम्भमें बताया गया है कि प्राचीन कालमें यद्यपि शिक्षाकी इतनी समुचित व्यवस्था न थी, इतने साधन-साज उपलब्ध न थे, तथापि शिक्षा धर्म-प्राण थी । शिक्षाका मूल उद्देश्य उस समय यह समझा जाता था कि मनुष्य शिक्षित होकर इस लोकमें शुद्ध आचारवान् बनकर त्यागवृत्ति धारण करे और अपने परलोकको सुधारे । परलोकको सुधारनेकी जितनी तीव्र इच्छा उस समयके मनुष्योंमें थी, उतनी ही आज इस जीवनमें जितने भौतिक सुखोंकी उपलब्धि एवं भोग कर सको, करो—हो गयी है । लोगोंके आचरणपर कोई धार्मिक अङ्कुश नहीं रहा । असत्य भाषण, झूठ-कपट, राग-द्वेषका वर्ताव—एक दूसरेको नीचा दिखानेकी कुत्सित भावना, अंधी होड़, पाप-पुण्यके भेदको न समझना और इन्द्रिय-सुख—सभी मानो इन्हींमें अपने-आपको खोये चले जा रहे हैं; अपने इस अमूल्य मानव-जीवनको माटीके मोलका समझकर पुनः प्राप्त हो, न हो—इस भावनाके वशीभूत होकर जो इस भूभागपर अन्धी दौड़ दिखायी पड़ रही है, वह इस समाजको कहाँ ले जाकर रख देगी ? 'जैसा राजा, वैसी प्रजा'के स्थानपर अब 'जैसे नेता, वैसी जनता' ढलती जा रही है । यदि नेताओंमें 'नैतिकता' होती, धर्मके प्रति कुछ आस्था होती, उनके जीवनमें सुरा-सुन्दरियोंका प्रवेश निषिद्ध होता, भौतिक ऐश्वर्योंमें उनकी आँखें उलझी-उलझी न होतीं । कुर्सी प्राप्त करनेकी उलटी-सीधी, झूठ-कपटकी बात कहनेकी सत्रह आने कोशिश न होती—तो कुछ सम्भव था; उनकी जनता उनके भीतरसे निकली अन्तरात्माकी पुकारपर कुछ चिन्तन करती, कुछ मनन करती और थोड़ी सोचती कि उनके बालक-बालिकाओंकी शिक्षा-व्यवस्थामें धार्मिक पुट अवश्य होना चाहिये, जिससे धर्म-निरपेक्षताकी ओटमें धर्म-विमुखता न पनप पाती और न ऐसे उच्छृङ्खल तत्त्व ही समाजमें दिखायी देते ।

ऊपरसे, विज्ञानके ज्ञानकी चमचमाहट और जाज्वल्यमान प्रकाशने आजके युवकको इतना चौंधिया दिया है कि वह उसके पार उस विशुद्ध, सत्य, सनातन, आदिपुरुष, अगम्य, अगोचर—उस सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र व्यापक, इस ब्रह्माण्डका नियन्त्रण करनेवाले प्रभुको कभी देख ही नहीं सकता और न उसकी कल्पना ही कर सकता है !

निंदक नियरे राखिये

(लेखक—डा० श्रीसुरेशचन्द्रजी गुप्त, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

संत कबीरने एक दोहेमें बड़े मर्मकी बात कही है—

> निंदक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
> बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय॥

इस दोहेका भाव यह है कि निन्दकको अपने पास रक्खो—उसके लिये अपने आँगनमें कुटी बनवा दो; क्योंकि वह पानी और साबुनका प्रयोग किये बिना भी स्वभावको निर्मल बना देता है। जैसे कपड़ेपर किसी भी वस्तुका दाग तुरंत पड़ जाता है, उसी प्रकार मन-रूपी वस्त्रपर भी जगत्के दुष्प्रभाव पड़ते रहते हैं। मन एक ऐसे दर्पणकी भाँति है जिसमें प्रत्येक वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़ता है। कुछ बिम्ब ऐसे होते हैं, जिन्हें सुरक्षित रखनेकी आवश्यकता होती है और कुछको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखना होता है।

जगत्में नानाविध पदार्थ और कार्य-व्यापार होते हैं। मन उन सभीके प्रति आकर्षित होता है और साधारणतः हमारी यह प्रवृत्ति नहीं होती कि हम आत्मविश्लेषण करके अपने मनोभावोंमें ग्राह्य-अग्राह्यका विवेक रक्खें। मनकी इस दुर्बलताका यह फल होता है कि गुणोंकी तुलनामें दोष मनुष्यको अधिक आकृष्ट करते हैं। किंतु मन यह स्वीकार करना नहीं चाहता कि उसकी प्रवृत्ति दोषोंकी ओर है। दोषोंके विघातक रूपकी ओरसे आँखें बंद करके हम उनके मोहक रसका आनन्द लेते रहते हैं।

मानव-मनकी उपर्युक्त प्रवृत्तिका मूल कारण यह है कि हम अहंवादी हैं—अपने सामने किसीको कुछ नहीं गिनते। इसका ही एक अन्य फल यह होता है कि हमें अपनेमें गुण-ही-गुण दिखायी देते हैं और हम दूसरोंको दोषोंका भंडार समझते हैं। बहुत कम लोग हैं जो आत्मप्रशंसाके इस रोगसे मुक्त रह पाते हैं। पर, जैसे हमें दूसरोंकी निन्दा करनेमें रस मिलता है, वैसे ही हमारी निन्दा करना भी कुछ लोग अपना परम धर्म मानते हैं। कबीरने ऐसे व्यक्तियोंसे संत्रस्त न होनेकी प्रेरणा दी है—वे तो हमारे भाई हैं, हितू हैं, मुक्तिदाता हैं। उन्हें सिर-आँखोंपर बिठाइये और खोद-खोदकर पूछिये कि उन्हें आपमें कौन-कौन-से दुर्गुण दिखायी देते हैं।

कहते हैं कि कच्चा बर्तन जरा-सी आँच पाकर तड़क जाता है। शीशेको जमीनपर डालिये, तुरंत चकनाचूर हो जायगा। ध्यान रखिये कि आपमें ऐसा अधैर्य अथवा असंयम नहीं होना चाहिये। अपनी निन्दा सुनकर न तो कुपित होना चाहिये और न ऐसी बातोंको अनसुना ही करना चाहिये। उन्हें ध्यानसे सुनिये और उनपर मनन कीजिये। हाँ, हम यह अवश्य कहेंगे कि ऐसे लोगोंके लिये आँगनमें कुटी बनवाने और वहाँ रहनेकी प्रार्थना करनेके दिन अब नहीं रहे। अपने ही रहनेका ठिकाना नहीं हो पाता, उनके लिये व्यवस्था कहाँसे करें ? हाँ, आप उन्हें चाय पीनेके लिये आमन्त्रित कर सकते हैं और अपने दुर्गुणोंकी कुनैनको चायकी हर घूँटके साथ मधुर बनाकर ग्रहण कर सकते हैं।

चिकना घड़ा

[कहानी]

(लेखिका--श्रीमती बलवीर 'वीर')

मेरे पतिका एक विचित्र स्वभाव यह है कि यदि कोई उनसे अपनी दुःख-दर्दभरी बात सुनाकर सहायताके लिये कहता है तो उनका हृदय एकदम पिघल जाता है और उसके दुःख-निवारणके लिये वे इतने उतावले हो जाते हैं कि जबतक उसका कोई हल ढूँढ़ न लें, उन्हें चैन नहीं आती। ऐसा करनेमें कई बार उन्होंने रुपये-पैसोंके अतिरिक्त तनके कपड़े तक उतारकर लोगोंको दे दिये हैं।

उनके ऐसे व्यवहारके कारण मैं कई बार उनसे उलझ पड़ती थी और कहा करती—'हम गृहस्थी हैं, त्यागी नहीं हैं। इस तरह करते रहनेसे हमारा घर उजड़ जायगा, लेकिन मालूम नहीं आपके अंदर यह कमजोरी क्यों घर कर चुकी है। इसका अन्त अच्छा नहीं होगा। इस तरह अपने आपको लुटाते रहना बुद्धिमत्ता नहीं है।'

बार-बार ऐसा समझानेपर भी उनपर कुछ असर नहीं होता था और मेरी फटकारको हँसीमें उड़ाते हुए वे कह देते—'तुम पगली हो! सुनो! जब मैं पैदा हुआ था तो अपने साथ कुछ भी लेकर नहीं आया था और जब मैं बहुत छोटा ही था, तभी मेरे माँ-बापकी छाया मेरे सिरसे उठ गयी थी और तब मैं अनाथ रह गया था। अब···अब······कई दयालु सज्जनोंकी दयाके कारण ही मैं इतना बड़ा हो गया हूँ···भगवान्‌ने मुझे कितना बड़ा व्यापारी बना दिया है··· ये सब चीज़ें मेरी नहीं हैं···भगवान्‌की ही देन हैं। इसलिये भगवान्‌के बंदोंका इनमें थोड़ा-बहुत अधिकार होना ही चाहिये।'

संसारमें रहकर मुझे उनकी ऐसी साधुओं-सरीखी बातें बहुत बुरी लगा करती थीं। विशेषकर इसलिये कि मैं इसे उनकी मानसिक कमजोरीके सिवा और कुछ नहीं समझती थी। मैं इसीलिये उनके ऐसे विचारोंसे कभी सहमत नहीं होती थी और सदैव विरोधमें कहती—'हमारे भी बाल-बच्चे हैं, हमें उनकी भी चिन्ता करनी है। आप हैं कि जो भी आता है, उसके लिये पागल हो उठते हैं। इस तरहका आदमी तो मैंने आजतक कोई नहीं देखा। यदि आप ऐसे ही करते रहें तो इसका बहुत बुरा परिणाम भोगना पड़ेगा। संसारमें रहकर व्यावहारिकताको हाथसे नहीं खो देना चाहिये।'

मेरा ऐसा तर्क सुनकर वे तड़प उठते और झल्लाकर कहते—'क्या तुम्हारा यह मतलब है कि बस मेरा संसार अपने घरके इर्द-गिर्द ही घूमते-घूमते समाप्त हो जाना चाहिये? यह तुम्हारी तंगदिली है। चूँकि इन्सान अभीतक अपने दायरेसे बाहर निकलना सीख नहीं पाया है, यही कारण है कि दूसरे इन्सानोंका दुःख-दर्द जाननेवाले संसारमें कम नज़र आते हैं। स्वार्थपरताका जोर बढ़ रहा है और मानव मानवको बचानेके बजाय उसका गला काटता जा रहा है······तुम्हें मेरे साथ रहकर कुछ सीखना होगा।'

'सीखने-सिखानेकी भी कोई हद होती है।' मैं जल-भुनकर कहती—'आपने कभी न यह देखा है, न सोचा है कि जो आपके पास आ रहा है, वह असलमें अधिकारी भी है या नहीं। लोगोंको आपकी दयालुता कहूँ या कमजोरी—उसका ज्ञान हो चुका है और वे उसका लाभ उठाते चले जाते हैं।'

मैं सैकड़ों बार उन्हें इस तरह समझा-समझाकर थक-सी गयी थी; परंतु वे एक थे जैसे चुपड़ा हुआ घड़ा। रोज अपनी आँखोंसे ऐसा होते देखकर आखिर मैंने सोचा कि लड़ाई-झगड़ा करनेसे तो ये अपनी आदत बदलते नहीं हैं, इसलिये अब इन्हें अपनी शपथ दिलाऊँगी। मुझे पता था कि मेरी शपथका किसी हालतमें भी ये उल्लङ्घन नहीं कर पायेंगे; क्योंकि इनकी जबानसे प्रायः मैंने यह कहते हुए सुना था—'यह सब तुम्हारा ही प्रताप है। तुम्हारे कदम पड़नेपर ही लक्ष्मी मेरे ऊपर प्रसन्न हुई थी। यदि तुम मुझे न मिलतीं तो मेरा जीवन मिट्टीमें मिल जाता। तुम्हारे लिये मैं सब कुछ करनेको तैयार हूँ' और मुझे अपने अन्तिम हथियारको आजमानेका संयोग भी जल्दी ही मिल गया।

नवम्बरका महीना था। वे कामपर जानेकी अभी तैयारी कर ही रहे थे कि नीचेसे किसीने घंटी बजायी। मैंने खिड़कीसे झाँका। एक साँवले रंगका नौजवान खड़ा था। उसने पूछा—'क्या बाबूजी घरपर हैं?'

एकाएक मेरे मनमें एक शंका उत्पन्न हुई। सोचा, कुछ माँग लेकर आया होगा। मनमें आया कह दूँ कि वे घरपर नहीं हैं। मैं अभी ऐसा करनेकी बात सोच ही रही थी कि इन्होंने झटसे नीचे ताका और जोरसे पुकारा—'देवेन्द्र! आ जाओ!'

वह कमरेमें आकर बैठ गया। मैं कमरेसे चली गयी, लेकिन दीवारके साथ खड़ी होकर उनकी बातें सुनती रही।

देवेन्द्र कह रहा था—'बाबूजी ! आपकी कृपाओंका मैं बहुत आभारी हूँ । आपकी कृपासे और आपकी सहायतासे; जो आप मेरी फीसके सम्बन्धमें करते रहे हैं, मैं आज बी.ए.की परीक्षामें पास हो गया हूँ ।'

उन्होंने उसकी पीठ ठोंकी और उसे प्रोत्साहन देते हुए कहा—'अब तुम्हारा कष्ट कट गया समझो । कहीं नौकरी लग जायगी । कोशिश करो ।'

'बाबूजी,' देवेन्द्रने नम्रतापूर्वक कहा, 'आपकी बात तो ठीक है; परंतु नौकरी भी तो बिना सिफारिशके नहीं लगती ।'

'चिन्ता मत करो । भगवान् करे तुम्हें नौकरी भी शीघ्र मिल जाय । मैं तुम्हारी किसी अच्छी-सी जगहपर सिफारिश कर दूँगा'·····'तुम मुझे मिलते रहना ।'

देवेन्द्रने आँखोंमें कृतज्ञता लाते हुए कहा—'मैं आपका धन्यवाद किन शब्दोंसे करूँ बाबूजी !'

'इसमें धन्यवाद करनेकी क्या बात है । तुम मेरे प्रिय हो, जहाँतक मुझसे हो सकेगा, मैं तुम्हारी अवश्य सहायता करूँगा ।'

'मैं आपको याद दिलाता रहूँगा । आपके बिना मेरा अमृतसरमें और कोई भी तो नहीं है । सब रिश्तेदार अपने-आपमें मस्त हैं । बेशक वे सब खाते-पीते हैं, लेकिन कभी किसीने मेरी सहायता नहीं की । आपने जो मेरी सहायता आजतक की है, मैं जीवनभर भूल नहीं सकूँगा और सारी उम्र आपका पानी·····।'

इन्होंने उसकी बात काटते हुए कहा—'ऐसी बातें नहीं सोचनी चाहिये । मैं कौन हूँ जो किसीको मदद कर सकूँ । सब चक्र ऊपरवाला ही चलाता है ।'

देवेन्द्रने जानेसे पहले कहा—'बाबूजी ! एक······ अर्ज करूँ ।'

'हाँ, हाँ ! झिझक किस बातकी ?'

देवेन्द्रने रुकते-रुकते कहा—'मेरे पास जो रजाई थी, वह चार-पाँच साल हुए बनवायी थी'·····'और अब बिलकुल फट चुकी है'·····'उसमें मैं आजकल इस सख्त सर्दीमें अकड़ जाता हूँ'·····'एक रजाई अगर मिल जाय'·····'तो इस सर्दीसे बच जाऊँगा'·····'नहीं तो'·····।'

एक क्षण कुछ सोचकर उन्होंने कहा—'कल दोपहरको दूकानपर आना, मैं तुम्हारे लिये रजाईका प्रबन्ध कर दूँगा ।'

देवेन्द्र जब चला गया तो मैंने इस विषयपर उनसे काफी नोक-झोंक की, लेकिन वे हारनेवाले कब थे । आखिर मैंने अन्तिम तीर चलाया । अपनी कसम दिलायी । उन्होंने उत्तरमें मुझे आश्वासन दिलाते हुए कहा—'मैं तुम्हारी कसम खाता हूँ कि बाजारसे रजाई खरीदकर नहीं दी जायगी ।'

मुझे उस दिन पहली बार अपनी विजयपर खुशी हुई थी, परंतु उन्होंने जो कसम खायी थी, वह तो मुझे बादमें पता चला कि वह एक ऐसी शरारत थी जो वकील लोग बातें करते समय किया करते हैं । देवेन्द्रके आनेके दूसरे दिन हमलोगोंको दिल्ली उनके बड़े भाईकी लड़कीके विवाहमें जाना था । मैं दोपहरको सब सामान तैयार करके बिस्तर वगैरह बाँधकर अपने मैके मिलने जब गयी तो रास्तेमें इनको कहती गयी कि आप शामको घरपर जल्दी आ जाना । मैंने देखा कि देवेन्द्र उस समय उनके पास बैठा था । उसे देखकर न मालूम मुझे उसपर क्यों क्रोध आ गया था ?

दिल्ली पहुँचकर जब रातको बिस्तर लगाये गये तो इनकी रजाईका वहाँ कुछ पता न चला, काफी लोग आये हुए थे । मैंने सबकी रजाइयाँ एक-एक करके उलट-पुलट करके देखीं, लेकिन इनकी रजाई सचमुच गुम थी । मैं बड़ी हैरान हो रही थी । मैंने खुद ही तो इनका बिस्तर तैयार किया था, फिर रजाई गुम कैसे हो गयी ! रास्तेमें बिस्तर हमने खोले ही नहीं थे । जो कम्बल हमारे पास थे, उन्हींसे रास्तेमें गुजारा हो गया था । मैं घबरायी कि इनको जब अपनी रजाई नहीं मिलेगी, तो ये मुझपर नाराज होंगे । एक शंका पैदा हुई—'शायद मैं जल्दी-जल्दीमें अमृतसर ही भूल आयी हूँगी ।'

रातको जब इनके भाईके घरसे नयी रजाई लेकर इनके बिस्तरपर रक्खी तो सोते समय इन्होंने मुझसे सरलतापूर्वक पूछा—'मेरेवाली रजाई कहाँ है ?'

मैंने डरते-डरते उत्तर दिया—'बिस्तर बाँधते समय शायद मैं अमृतसर ही भूल आयी हूँ ।'

'वाह ! तुम भी बहुत होशियार औरत हो !' उन्होंने भोले भावसे कहा—'मेरे साथ तर्क-वितर्क करनेमें तो कभी भूल नहीं करती हो और इतनी बड़ी रजाई वहाँ कैसे भूल गयी ?'

मैं हारे हुए सिपाहीके सदृश थी, क्या उत्तर देती । सहसा मेरे मुँहसे निकल गया—'जरूर इसमें आपकी शरारत होगी ।'

'मेरी शरारत ! इस तरह थोड़े ही जीता जा सकता है ?' उन्होंने मुस्कराते हुए कहा ।

मैं अभी कुछ उत्तर दे ही नहीं पायी थी कि जेठजी आ गये और मैं चुपकेसे वहाँसे खिसक गयी ।

विवाहकी भीड़-भाड़में रजाईकी बात मेरे दिमागसे उतर-

सी गयी थी। विवाहके बाद बाहरसे आये हुए लोग जा रहे थे। भीड़भाड़ कम हो रही थी। एक दोपहरको पोस्टमैन कुछ चिट्ठियाँ फेंक गया। उनमें एक चिट्ठी इनके नाम भी थी। मैंने उसे खोल लिया। जब मैंने उसे पढ़ा तो मेरे विस्मयकी कोई सीमा न रही। पत्र देवेन्द्रका था। लिखा था—

'पूज्य पिताजी! मुझे विश्वास है कि आप सब राजी-खुशी दिल्ली पहुँच गये होंगे। बहुत दिनोंके बाद मैं अब रातको आरामसे सोया करता हूँ। आपकी दी हुई रजाईसे मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे मैं आपके साथ ही सोता हूँ और आप मुझे थपकियाँ दे-देकर सुलाते रहते हैं। इस समय भी मैं इस बेजान रजाईके तार-तारमें आपके दर्शन कर रहा हूँ। ऐसा हो भी क्यों न! आपकी मेरे प्रति प्रीति सदा ही मिलावटसे दूर रही है। यह रजाई आपके दिलकी भीतरी भावनाओंकी जीती-जागती तस्वीर है—।'

पत्र समाप्त करते-करते न मालूम क्यों और कैसे मेरे नेत्रोंमें अलौकिक आनन्द और शान्तिके अश्रु छलछला आये, जिन्होंने मेरे हृदयके अन्तरतम तारोंको झकझोर कर जन्म लिया था। उनकी रजाईने एक गरीब प्राणीको कितना बड़ा सुख पहुँचाया था, यह सोचते-सोचते मेरी आत्मा उनकी महानताके आगे झुक-सी गयी।

जब वे घर आये, तो मैंने वह पत्र उनको दे दिया। पत्र पढ़कर उन्होंने मुझसे हँसते हुए कहा—'अब तो खोई हुई रजाई मिल गयी है न?'

मेरी आँखोंमें अपार प्रसन्नता थी, फिर भी मैं उन्हें उनके सामने उठा न सकी। केवल इतना ही कह पायी—'आजसे मैंने निश्चय कर लिया है कि कभी आपका विरोध नहीं किया करूँगी।'

मेरा उत्तर सुनकर वे मुसकरा कर बोले—'जो काम मैं अभीतक कर नहीं पाया था, मुझे प्रसन्नता है कि देवेन्द्रके एक पत्रने ही वह कर दिखाया है।'

जय श्रीकृष्ण हरे !

[रचयिता—विद्यालङ्कार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न]

जय श्रीकृष्ण हरे।
जय मुकुन्द मधुसूदन माधव,
मुरली अधर धरे !!

× × ×

बनमाला धारे बनमाली, तुझे देख है मुग्ध बनाली।
कालिंदीके फलित कूल पर, तू किल्लोल करे।
जय श्रीकृष्ण हरे॥

× × ×

जब निशीथके सूने क्षणमें, बजती मुरली वृंदावनमें,
मधुर गीत गुंजित हो भवमें, तन्द्रा-दुरित हरे।
जय श्रीकृष्ण हरे॥

× × ×

चढ़ सौन्दर्य-समीरण-रथमें, बिखराता कलियाँ वन-पथमें,
जब तू कुसुमित वन कुंजोंमें, नटवर नृत्य करे।
जय श्रीकृष्ण हरे॥

× × ×

नखत-प्रदीप-पुंज ले रजनी, कर-कुंकुम ले ऊषा सजनी,
तेरी नित आरती-अर्चना, सज-सज थाल करे।
जय श्रीकृष्ण हरे॥

× × ×

पावस-ऋतुमें मेघ-किन्नरी, हरित फलित छवि-रागसे भरी,
धो-धो कर तेरे चरणोंको, निज मन मोद भरे।
जय श्रीकृष्ण हरे॥

× × ×

माधवका स्वर लेकर कोयल, कूक-कूक कुंजोंमें प्रतिपल,
व्रज-नागरियोंके मानसमें, मोहन-विरह भरे।
जय श्रीकृष्ण हरे॥

× × ×

कालिंदीकी लहरें चंचल, फिर-फिर, तिर-तिर करतीं कल-कल,
स्मृतिकी किरण चमकतीं उनमें माधव-रूप धरे।
जय श्रीकृष्ण हरे॥

× × ×

मेरे जीवन की यह यमुना, प्लावित हो पा तेरी करुणा,
तेरे चरणों पर नयनोंका आँसू-कुसुम झरे।
जय श्रीकृष्ण हरे॥

यन्त्र-शक्तिके अलौकिक चमत्कार

(लेखक—श्रीअरुणकुमारजी शर्मा)

मेरा पिछले सोलह वर्षोंसे योग और तर्कशास्त्र खोज एवं अनुसंधानका विषय रहा है। इस सिलसिलेमें मुझे योग एवं तन्त्रके प्राचीन तथा दुर्लभ ग्रन्थोंकी उपलब्धिके अतिरिक्त तन्त्रके अनेक शक्तिशाली चमत्कारोंको प्रत्यक्ष देखने और अनुभव करनेका भी अवसर मिला। केवलमात्र पुस्तकीय ज्ञानके आधारपर तन्त्रकी गूढ़ता एवं रहस्यमयतासे परिचित नहीं हुआ जा सकता। वस्तुतः यह क्रियात्मक ज्ञान है। साधना एवं उपासनाकी भित्तिपर तन्त्रकी असीम शक्तिका पूर्णतया अनुभव किया जा सकता है। अस्तु,

तन्त्रकी यावत्-साधनाका मूल केन्द्र एकमात्र 'ॐ' है। पिछले वर्ष मैं 'गिरिनार' स्थित एक महात्माके दर्शनके लिये गया था। उनसे मुझे 'तन्त्रभास्कर' और 'तन्त्रसारसर्वस्व' नामक दो अति प्राचीन और अलभ्य ग्रन्थोंकी प्राप्ति हुई। 'तन्त्रभास्कर' के अनुसार नाभिमण्डलके मध्यमें 'अग्निकुण्ड' है। जिसके चतुर्दिक् ज्योतिमण्डल है। इस मण्डलसे जो विद्युत्-छटा निकलती है, वह तीव्र गतिसे एक वृत्त बनाती है। वृत्त प्रकाशमय है। इस प्रकाशमय वृत्तको 'प्रभामण्डल' कहते हैं। अतः इन तीनों मण्डलोंके अधिष्ठातृ देवता क्रमशः सूर्य, अग्नि और चन्द्र हैं। मण्डलोंसे सामूहिक रूपमें जो कम्पन उत्पन्न होता है, उससे 'अ' 'उ' 'म' इन वर्णत्रयकी उत्पत्ति हुई। अकार, उकार, मकार आदिवर्ण हैं। क्रमशः इनका सम्बन्ध देवत्रयसे माना गया है और यही समस्त मन्त्रोंके साथ देवताओंके सम्बन्धका 'कारण' है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'अ' शिवका प्रतीक और 'ह' शक्तिका प्रतीक वर्ण है। 'अ' से 'ह' तक वर्ण 'गुणत्रय' से युक्त हैं। मन्त्रके अक्षरोंके संयोजनके समय 'गुणत्रय' पर विशेष ध्यान दिया जाता है। प्रत्येक मण्डलसे जो कम्पन उत्पन्न होता है, उसमें अति सूक्ष्म भेद है। 'अग्निकुण्ड' अर्थात् सूर्य-मण्डलसे उत्पन्न कम्पन एक सेकेंडमें ११,००,००० बार होते हैं। इसे प्रथम स्पन्दन कहते हैं। ज्योतिमण्डलके कम्पन एक सेकेंडमें ९,००,००० बार होते हैं। इसी प्रकार चन्द्र-मण्डल यानी 'प्रभामण्डल' का कम्पन ९,००,०० से कुछ सौ न्यून है। इन दोनों स्पन्दनोंको द्वितीय और तृतीय स्पन्दन कहते हैं। इस दूसरे स्पन्दनसे अष्ट प्रकृति-कम्पन-प्रधान अष्ट बीजकी उत्पत्ति हुई।

बीजमन्त्रास्त्रयः पूर्वं ततोऽष्टौ परिकीर्त्तिताः।
गुरुबीजं शक्तिबीजं रमाबीजं ततो भवेत्॥
कामबीजं योगबीजं तेजोबीजमथापरम्।
शान्तिबीजं च रक्षा च प्रोक्ता चैषां प्रधानता॥

(तन्त्रभास्कर मन्त्र-१०)

बीजमन्त्र प्रथम तीन और तदनन्तर आठ हैं। गुरु-बीज, शक्तिबीज, रमाबीज, कामबीज, योगबीज, तेजबीज, शान्तिबीज और रक्षाबीज।

कामबीज—क, ल, ई और म। (क्लीं)
योगबीज—क, र, ई और म। (क्रीं)
गुरुबीज—आ, ए और म। (ऐं)
शक्तिबीज—ह, र, ई और म। (ह्रीं)
रमाबीज—श, र, ई और म। (श्रीं)
तेजबीज—ट, र, ई और म। (ट्रीं)
शान्तिबीज—स, त, र, ई और म। (स्त्रीं)
रक्षाबीज—ह, ल, ई और म। (ह्लीं)

औरइसी प्रकार अष्टबीजोंसे नौ अङ्क और ० शून्यका भी अनुभव होता है। कामबीजसे १, ५, २। गुरुबीजसे ३, ७, ९। शक्तिबीजसे ४, ६, ८। रमाबीजसे ५, ७, ९। तेजबीजसे ८, ६, २। शान्तिबीजसे ८, ७, ० शून्य। रक्षाबीजसे ०, ५, २, ७ और योगबीजसे ९, ५, ३, २ और ७ का ज्ञान होता है। एक प्रकारसे वर्णोंका सम्बन्ध अष्टबीजोंके द्वारा अङ्कोंसे है। वस्तुतः वर्णबीजोंकी जो सार शक्ति है, वह अङ्कोंमें स्थित है। इसलिये मन्त्रोंकी अपेक्षा यन्त्र अति शीघ्र सिद्ध और फलकारक बन जाते हैं। जिस प्रकार धातु और रासायनिक पदार्थोंके विचार और मात्रापूर्वक मिश्रणसे विद्युत्-शक्ति उत्पन्न होकर प्रकाश देती है—उसी प्रकार मन्त्रोंमें अक्षर और यन्त्रोंमें अङ्कोंका मिश्रणकर उनसे असीम सूक्ष्म शक्ति उत्पन्न की जाती है। इस सूक्ष्म शक्तिके द्वारा ही वर्णाक्षरों एवं अङ्काक्षरोंके स्वाभिमानी देवगण फल देते हैं; किंतु वह सूक्ष्म शक्ति तभी सक्रिय होती है जबकि प्राणशक्ति, अन्तः-करणकी शुद्ध-शक्ति, भावशक्ति, संयमशक्ति, संकल्पशक्ति,

ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, इच्छाशक्ति और मनःशक्ति नामक नौ महाशक्तियोंका उसमें योग होता है। यह भी जान लेना चाहिये कि ९ महाशक्तियाँ ही ९ दुर्गा हैं और इस ९ में शून्यकी प्रतिष्ठा करके तन्त्रशास्त्रमें 'दश महाविद्या' बतलायी गयी हैं। इन शक्तियोंके माध्यमसे जिन मन्त्रोंकी साधना होती है, वे निश्चय ही अपूर्व शक्तिशाली हो जाते हैं। ऐसे मन्त्र मनुष्यको क्या, देवता तकको वशीभूत कर लेते हैं— 'मन्त्रसाधनतो देवा देव्यः संयान्ति वश्यताम्।'(तन्त्रभास्कर)

'यन्त्रचूड़ामणि' नामक तन्त्रग्रन्थके अनुसार यन्त्र चार प्रकारके हैं। प्रथम प्रकार वह है— जिसमें एकाङ्कका प्रयोग होता है।

उदाहरणार्थ—

८	१	६
३	५	७
४	९	२
वृ०	क०	तु०

इस यन्त्रके प्रत्येक कोष्ठमें एक-एक अङ्क है। सबसे नीचेके तीन कोष्ठोंमें वृश्चिक, कर्क और तुला राशि हैं। यानी इन तीन राशिवाले मनुष्योंको केवल यन्त्र फल देगा। यह पंद्रहा यन्त्र है। फारसीमें इसे 'खाकी' कहते हैं। इस यन्त्रके प्रभावसे शत्रु वशीभूत, शारीरिक बाधाका निवारण, लक्ष्मी-प्राप्ति, मनःकामनाकी पूर्ति एवं परिवारके समस्त कष्टोंका निवारण होता है। ये 'पंद्रहा'यन्त्र चार प्रकारके हैं। जो बारहों राशियोंके मनुष्योंके लिये चार भागोंमें विभक्त हैं; किंतु फल चारोंका एक समान है। फारसी तन्त्रोंमें इन चारोंका अत्यधिक महत्त्व है। उसमें इन्हें खाकी, बादी, आबी और 'आतिशी' कहते हैं।

दूसरा यन्त्र वह है, जिसमें दो अङ्कोंका प्रयोग होता है। यानी प्रत्येक कोष्ठमें दो-दो अङ्क साथ होते हैं। उदाहरणार्थ—

४२	७४	३६
५२	३८	४७
७१	८२	९२

यह मनःकामनापूर्ति यन्त्र है। जो चमत्कारी और सिद्ध है। तीसरा यन्त्र वह है जिसके कोष्ठकोंमें एकाङ्क और द्वयाङ्क दोनों रहते हैं।

उदाहरणार्थ

२३	३०	२	८
७	३	२७	२६
२८	२४	९	१
४	६	२५	२८

इस यन्त्रके किसी कोष्ठकमें दो अङ्क हैं तो किसीमें केवल एक। यह वशीकरण यन्त्र है। सात दिनके अंदर यह सिद्ध हो जाता है। चौथा यन्त्र वह है, जिसमें केवल बीजाक्षर होते हैं। इसका एक दूसरा भेद भी है। जिसमें बीजाक्षरोंके साथ एकाङ्क या द्वयाङ्क भी रहते हैं।

उदाहरणार्थ—

ॐ	ॐ	ॐ	ॐ
सं	सं	सं	सं
लं	वं	यं	ह्रीं
सां	ऐं	ॐ	क्लीं

यह यन्त्र है, जिसका किसी भी रुष्ट व्यक्तिको बुलाने और वशमें करनेके लिये प्रयोग किया जाता है। इसमें केवल बीजाक्षरोंका प्रयोग किया गया है। बीजाक्षरों एवं अङ्काक्षरोंका सम्बन्ध नक्षत्रों एवं राशियोंसे भी घनिष्ठ है। किन नक्षत्रों और राशियोंसे किस यन्त्रका सम्बन्ध है, यह एक पृथक् विषय है। जिस प्रकार यन्त्र और मन्त्र नक्षत्र और राशिके बन्धनमें हैं— उसी प्रकार 'समय' और 'ओषधि' से उनका समीपका सम्बन्ध है। इन सबपर ध्यान दिये बिना जो यन्त्र और मन्त्र प्रयोगमें लाये जाते हैं, वे कदापि सफल नहीं हुआ करते।

प्रत्येक मन्त्रकी सिद्धि, साध्य वस्तुपर भाव-शक्तिके द्वारा केन्द्रीकरण (Focus) होनेसे तभी हो सकती है। विश्वमें दो ही ऐसी भाषाएँ हैं, जिनके प्रत्येक अक्षरके भीतर सूक्ष्म भावपूर्ण अर्थ है। एक संस्कृत और दूसरी हिब्रू। अतः इनके अक्षरोंके युक्तियुक्त मिलनके द्वारा चमत्कारी प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। यही यन्त्र और मन्त्रका मूल रहस्य है। जो इस रहस्यसे परिचित हो जाते हैं—वे इसका उपयोग कर जीवनकी अनेक जटिल समस्याओंका सहजमें निराकरण कर लिया करते हैं।

प्रगति या अधोगति ?

आजकल भारत-राष्ट्रको समाजवादी राष्ट्र बनानेकी बड़ी चेष्टा चल रही है। इस प्रसंगमें इंग्लैंडमें समाजवाद (सोशियलिज्म) के प्रवर्तक मनीषी लार्ड बेवरिज (Lord Beveridge) का कथन ध्यान देने योग्य है।

अपनी मृत्युसे कुछ पहले लार्ड बेवरिजने अपने अन्तरङ्ग बन्धु इटालीके अध्यापक श्रीबलडी (Prof. Baldi) से बड़े दुःखके साथ कहा था कि 'भाई! मैं बड़ी ही भूल कर बैठा, अच्छा करने जाकर बुरा कर गया।' अहंकारकी विषम बाधाको लाँघ जाना सहज नहीं है। 'भगवान्‌को छोड़कर अपनी बुद्धिसे काम करनेपर सारी चेष्टा व्यर्थ हो गयी। उन्होंने मृत्युसे पूर्व इसे स्वीकार करके कहा—'इसके फलस्वरूप पुत्र-कन्याएँ अपने वृद्ध माता-पिताका त्याग करनेमें प्रवृत्त हो गयी हैं।'

कैसा बुरा परिणाम हुआ है, इसका अनुमान इंग्लैंडके प्रसिद्ध पत्र 'स्पेक्टेटर' (Spectator) में प्रकाशित (ता० २५।५।६२ के) लेखके नीचे उद्धृत अंशसे लगाया जा सकता है। उसमें लिखा है—

"ब्रिटेनमें सैकड़ों-सैकड़ों वृद्ध माता-पिताओंका यह करुण विलाप 'मौत आ जाय तो बचें'—किसीके कानतक भी नहीं पहुँचता। परित्यक्त या उपेक्षित वृद्ध माता-पिताओंकी संख्या क्रमशः बढ़ती चली जा रही है।"

इस दुर्बुद्धिका फल कितना भयानक हो रहा है, इसका अनुमान इंग्लैंडके डाक्टरी पत्र ब्रिटिश मेडिकल जर्नल (British Medical Journal) में प्रकाशित १९। १। ६३ के नीचे उद्धृत अंशसे लगाइये।

इंग्लैंडके बहुत-से अस्पतालोंमें जितने रोगी हैं, उनमें प्रायः आधे मानसिक रोगोंसे पीड़ित हैं। १९४६ ईसवीमें इनकी संख्या ५४,४२१ थी, बढ़ते-बढ़ते १९५१ में ९,४४,०४३ हो गयी थी। (अब तो और भी बढ़ी होगी)

बूढ़े माता-पिताको उनके लड़के एक 'आफत' समझते हैं और वे जरा-सा भी कहीं कटु बोल जाते हैं तो उसी सूत्रसे लड़के उनके लिये पागलपनकी सर्टिफिकेट ले आते हैं और उन्हें मानसरोगोंके अस्पतालमें दाखिल करा देते हैं।

कोरोनर डा० मिल्नेने लन्दन नगरके एक गिर्जामें कहा था—'गतवर्ष मैंने ७०० शवों (मृत शरीरों) की परीक्षा की, उनमें १८० आत्महत्याके कारण मरे हुए थे। वृद्धावस्थामें पुत्रोंके द्वारा त्याग किये हुए लोग असहाय अवस्थामें जीवन बितानेके भयसे आत्महत्या कर लेते हैं। मैं ऐसे वृद्धोंको जानता हूँ जो इसी दुःखके कारण अंधे और हृद्रोगग्रस्त हो गये थे। ×××

यही हाल यूरोपके अन्यान्य देशों तथा—अमेरिकाका है। इन पाश्चात्त्य देशोंमें दारुण मानसिक कष्टके परिणामस्वरूप आत्महत्या और पागलोंकी संख्या दिनों-दिन बढ़ रही है।

इसी प्रसंगमें एक बार हमारे हिंदू-समाजके उस पवित्र चित्रका भी स्मरण कीजिये—

संयुक्त परिवारमें बीसों-पचीसों आदमी एक साथ रहते थे। एकके दुःखको सभी अपना दुःख मानकर उसके प्रतीकारकी चेष्टा करते थे। सभी अपनी कमाईके पैसे घरके बड़े या प्रधान व्यक्तिको देते और उसीके आदेशसे खर्च करते। किसी एककी आय कम होती तो कोई हानि नहीं होती। जो अधिक कमाईका काम नहीं कर सकता, वह घर-खेत आदिके काम अधिक देखता। कोई भी गड़बड़ी नहीं होती। देव-द्विजोंमें भक्ति,

गुरुजनोंके चरणोंमें प्रणाम और उनकी आज्ञाका पालन देवपूजनके समान कर्तव्य समझा जाता था। प्रतिदिन मन्दिरोंमें जाना होता, उनमें पर्वादिपर व्रत-पूजा आदि विधिवत् होते। पिता-माताकी सेवाको बड़ा सौभाग्य और पुण्य समझा जाता। सभीका विश्वास था कि इससे इस लोकमें सुख और परलोकमें सद्गतिकी प्राप्ति होगी।

केवल परिवार ही नहीं, शहरोंमें मुहल्ले तथा छोटे गाँवोंमें सारा गाँव मानो एक ही परिवार था। जमींदार या धनी लोग मन्दिर, कुएँ, तालाब, धर्मशाला आदि बनाते, पेड़ लगाते और दान-पुण्य करते। गरीब भाइयोंसे निरभिमान मिलते और उनके सुख-दुःखमें हिस्सा लेते। दूसरोंके दुःखसे दुखी होनेकी शिक्षा सबको कथाओंसे मिला करती। 'दान-पुण्य करनेपर अपना कल्याण होगा'—सभीकी यह धारणा थी, घरकी बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ फुरसतके समय महाभारत-रामायणकी पुरानी कथाएँ अपनी बहू-बेटियोंको सुनाया करतीं, जिससे उन्हें कर्तव्यका ज्ञान होता। सभी लोग पाप करते डरते।

हिंदुओंमें यह एक साधारण शिक्षा थी, गाँवके लोग भी कहते कि सबमें भगवान् हैं, अपने-अपने कर्मका फल सभी भोगते हैं। अतः सब सबसे अच्छा बर्ताव करना चाहते। कड़ी जबान बोलनेमें तथा अन्याय-पूर्ण काम करनेमें लोगोंको धर्म, परलोक और दुर्गतिका डर लगता।

छोटी जातिके भी बड़े-बूढ़ोंका ऊँची जातिवाले भी सम्मान करते, उन्हें चाचा, ताऊ, बाबा, दादी आदि सम्बोधन करते। सभी अपने-अपने कामके द्वारा सबकी सहायता करते। धर्मका भाव सुदृढ़ रहनेके कारण बिना किसी जाति-भेदके बड़ोंके प्रति सम्मान-श्रद्धा, बराबरकी उम्रवालोंके प्रति सौहार्द, छोटोंके प्रति स्नेह, दीन-दुखियोंके प्रति दया और सबकी भलाईकी सहज भावना रहती।

हिंदु-समाजका यह समाजवाद (सोशियलिज्म) ही वास्तविक समाज-कल्याणकर समाजवाद है। ईश्वर तथा धर्मरहित समाजवादसे तो प्रगतिके नामपर अधोगति ही होगी! (भारताजिर)

भगवान्का हृदयमें नित्यनिवास

बसे निरन्तर मेरे अन्तर सदा सर्वदा श्रीभगवान्।
सहज परम कल्याणरूप प्रभु पूर्ण सच्चिदानन्द महान्॥
नित्य समुद सेवन करते जो रहते नित प्रभुहीके पास।
हुआ सहज उन दैवी गुणों-विचारोंका मम मनमें वास॥
इससे काम-क्रोध, लोभ-मद, भय-चिन्ता, विषाद-अभिमान।
द्वेष-द्रोह, वैर-हिंसाको नहीं रह गया तनिक स्थान॥
ममता रही एक प्रभुमें ही, अहं बसा प्रभुपद स्वच्छन्द।
छाये नित्य निरन्तर रहते समता-शान्ति, परम आनन्द॥
अब न किसीका, कभी न होता तनिक अकल्याण-अपमान।
क्योंकि, सर्वहित सर्वसुखाकर यहाँ बसे रहते भगवान्॥

अद्भुत चमत्कारी बजरंग-बाण

(लेखक—डॉक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)

आप भी काममें लाया करें

'ठहरिये, मैं तीन मिनिटकी माफी चाहता हूँ !'

'क्यों, क्या कीजियेगा ?' मैंने आश्चर्यसे पूछा । ''इन्टरव्यू' में अब आपकी ही बारी आनेवाली है और आप अब मन्त्र पढ़ने जा रहे हैं । क्या यह पूजनका समय है ?'

'भाई साहब, कुछ नहीं, एक मनोवैज्ञानिक सिद्धि करूँगा । यह ऐसे ही महत्त्वपूर्ण समयके लिये चमत्कारी सिद्धि है । पुराने लोग करते और लाभ उठाते आये हैं । बस, अभी आता हूँ । ज्यादा समय नहीं लूँगा ।'

यह कहकर मेरे मित्र बागके एक कोनेमें फुर्तीसे चले गये । इन्टरव्यू चल रहा था । अनेक उम्मीदवार इन्टरव्यूके लिये तैयार होकर परीक्षा दे रहे थे । न जाने क्या-क्या पूछा जायगा ! कहीं हम घबरा न जायँ ! मनका संतुलन न बिगड़ जाय । आत्मविश्वास ढीला न हो जाय ! आदि सैकड़ों चिन्ताएँ परीक्षार्थियोंके चेहरोंपर उभरी हुई थीं । अंदरसे सबके मन धड़क रहे थे । घबराहटके कारण उनके मुँहपर हवाइयाँ उड़ रही थीं ।

इतनेमें हमारे मित्र लौट आये । अब उनका रूप ही कुछ दूसरा था । घबराहटके स्थानपर उनका मन शान्त और संतुलित था । चेहरेपर आत्मविश्वास लहरा रहा था । उनके मनकी चञ्चलता दूर हो चुकी थी । ऐसा प्रतीत होता था मानो उनमें कोई नयी शक्ति और उत्साह आ गया हो !

नतीजा यह हुआ कि उस दिन इन्टरव्यूमें उन्होंने कमाल कर दिया । वे निडर रहे । शान्त और संतुलित-रूपमें पूछे गये प्रश्नोंके उत्तर देते रहे । ऐसा लग रहा था जैसे वे घरमें बैठे अपने मित्रोंसे प्रेमपूर्वक बातचीत कर रहे हों ।

मुझे उनकी शक्तिके गुप्त रहस्यपर बड़ी जिज्ञासा हुई । आखिर, उस दिन उस छोटे-से पूजनमें उन्होंने क्या किया था ?

बड़ी कृपापूर्वक वे बोले, 'मैं एक गुप्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया जानता हूँ । हमारे धर्ममें ऐसे-ऐसे असंख्य मन्त्र भरे पड़े हैं, पर मैं तो इसीसे संकटोंको दूर किया करता हूँ । इसने अनेक मुसीबतोंमें मुझे नयी शक्ति, नया साहस, नये प्राण और कष्टनिवारक शक्ति दी है । जब-जब मेरे मनमें घबराहट उत्पन्न होती है, तब-तब मैं इसी मन्त्रको पूरे आत्मविश्वाससे दुहराता हूँ । उससे एक नयी शक्ति और आत्मविश्वास मेरे गुप्त मनमें उत्पन्न हो जाता है । यह आध्यात्मिक शक्ति मुझे सहायता करती है । मैं जब किसी महत्त्वपूर्ण कार्यकी सिद्धिके लिये जाता हूँ, तो पहले अपने इस प्रिय मन्त्रका जाप करके दूसरी गुप्त शक्तिसे भरकर जाता हूँ । इसी-की वजहसे मेरी सदा विजय होती रही है । रोग, शोक, कष्ट, विपत्ति और परीक्षाओंकी स्थितियोंमें मैंने इस मन्त्रसे बड़ा लाभ उठाया है ।'

ऐसा कहकर उन्होंने प्रसन्नताका अनुभव किया ।

मनुष्यके मनोविज्ञानका प्रेमी होनेके कारण मुझे इस रहस्यको जाननेकी बलवती इच्छा हुई । मैंने पूछा, 'हमें भी बतलाओ मित्र ! कौन-सा मन्त्र है वह आपका ? हम भी उससे फायदा उठायेंगे ।'

वे बोले, 'अच्छी चीज चाहे किसी भी धर्मसे सम्बन्धित हो, सबको ही जाननी चाहिये । फायदा उठाना चाहिये ।'

मैं बोला, 'आप उसे किस नामसे पुकारते हैं ?'

वे बोले, 'हम उसे 'बजरंग-बाण' कहा करते हैं ।'

मैं बोल उठा, 'बजरंगबली हनुमान्के पास न धनुष था, न बाण। फिर 'बजरंग-बाण' यह कौन-सा तीर है? कुछ अटपटा-सा नाम लगता है।'

वे बोले, 'बाणका अर्थ है कोई जो वार करे, जो निशानेपर लगे। यह ऐसा दिव्य मन्त्र है जिसमें महाबली, शक्तिशाली, हनुमान्जीकी सिद्धिसे संकटोंपर निशाना लगता है। वे संकट तुरंत कम हो जाते अथवा बिल्कुल दूर हो जाते हैं। हनुमान्जीकी समस्त शक्ति मनुष्यके मनमें उतर आती है। यह ऐसा बाण है, जिसे मारकर दुःख और संकट दूर किये जा सकते हैं। इस 'बजरंग-बाण' के शब्द-शब्दमें अपूर्व शक्ति भरी हुई है। मैं तो जैसे-जैसे परम श्रद्धासे इसका उच्चारण करता हूँ, वैसे-वैसे शक्तिशाली बनता जाता हूँ। इसके द्वारा मुर्दा दिलोंमें भी शक्ति आती है और संकट टल जाता है।

यह मेरा 'बजरंग-बाण'से पहला परिचय था। कुछ दिन पूर्व मेरी बुआजी मथुरासे पधारीं। उनसे इस विषयपर चर्चा चली, तो उन्हें भी इसका प्रेमी पाया।

वे बोलीं, मैंने जबसे होश सम्हाला है, तबसे ही इस उपकारी मन्त्रसे मैं काम ले रही हूँ। मैंने तो दैनिक पूजामें ही 'बजरंग-बाण'को सम्मिलित कर लिया है। इसकी वजहसे मेरा पूरा दिन बड़ी प्रसन्नता, साहस और आत्मविश्वासपूर्वक व्यतीत होता है। जैसे किसी ताकतकी दवाईसे शरीरमें सारे दिन शक्ति रहती है, वैसे ही बजरंग-बाणके पाठसे मेरा मन सारे दिन आध्यात्मिक शक्तिसे परिपूर्ण रहता है। यह मन्त्र मनके समस्त दुःखों और संकटोंको दूर करता है।'

'ऐसा आखिर क्यों होता है?' मैंने पूछा।

वे बोलीं, 'हमारे धर्ममें बल और शक्तिके प्रतीक हैं बजरंगबली हनुमान्जी। अर्जुनके विजयी झंडेपर हनुमान्जी विराजते हैं। इस चिह्नसे अर्जुनको हर स्थानपर विजय ही प्राप्त हुई थी। इसे देख-देखकर वे हनुमान्की शारीरिक और आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करते थे।'

'महावीर हनुमान्की क्या विशेषताएँ आप मुख्य मानती हैं?'

वे बोलीं, 'बजरंगबली हनुमान्में शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। यही कारण है कि आज भी असंख्य मनुष्य उन्हें स्मरण करते हैं, उनका पूजन और प्रातःकाल ही दर्शन करते हैं। उनमें अपार शारीरिक बल है। उनकी विशाल देह है। वे सदा ब्रह्मचर्यसे दीप्तिमान् रहते हैं। वे दुष्टोंका दमन करनेवाले हैं। ज्ञानियोंमें अग्रगण्य हैं। इस प्रकार शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक गुणोंसे परिपूर्ण बजरंगबली आज भी नयी शक्ति देनेवाले हैं। हनुमान् भगवान्के प्रिय भक्तोंमेंसे हैं। इस बजरंग-बाणकी सिद्धि-साधनासे मनुष्यमें उनके समस्त गुण प्रकट होने लगते हैं। अर्जुन सदा-सर्वदा हनुमान्जीके इन गुणोंका अनुसरण करना चाहते थे। इसीलिये उन्होंने अपनी ध्वजापर हनुमान्जीका स्वरूप रक्खा था।'

उनके इन तर्कोंसे मैं प्रभावित हुआ और हनुमान्जीकी विशेषताओंपर बहुत दिनोंसे विचार करता रहा हूँ। वास्तवमें हनुमान्जी हिंदूधर्मके एक महान् शक्ति-केन्द्र रहे हैं। उनकी विभूतियाँ भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थीं।

हनुमान्जीकी विशेषताएँ

महावीर हनुमान् शारीरिक शक्तिके प्रतीक हैं। वे अतुल बलवान् और पराक्रमी हैं। सोनेके पर्वत-जैसी उनकी सुदृढ़ देह है। असुरों अर्थात् समस्त दुष्ट शक्तियों, हर प्रकारके राक्षसत्व, पशुत्वको दूर करनेवाले हैं। इसी कारण इन्हें हिंदूधर्ममें 'महावीर' कहा गया। दुष्ट उनकी शारीरिक शक्तियोंके सामने ऐसे ही दब जाते हैं, जैसे पर्वतके नीचे क्षुद्र तिनका।

हनुमान् वायुपुत्र (पवनपूत) के नामसे प्रसिद्ध हैं। उनका चिह्न ध्वजापर धारण कर अर्जुनने वायु अर्थात् प्राणोंपर विजय प्राप्त की थी। प्राण चञ्चल हुआ, तो मन चञ्चल हो जाता है। प्राण स्थिर होनेसे मन

स्थिर हो जाता है। हनुमान्‌जीकी कृपा प्राप्त हो जानेपर मन और प्राण स्थिर होते हैं और शक्ति बढ़ जाती है।

मनोविज्ञानका यह अटल सिद्धान्त है कि मनुष्य जिन विचारों या भावोंको पूरी निष्ठा और संकल्पसे बार-बार दोहराता है या जिस मानसिक स्थितिमें देरतक निवास करता है, वही मानसिक स्थिति सदाके लिये उसकी आदत और स्वभाव बन जाता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक लेखक जुंगके मतानुसार मनुष्यकी नैतिक भावनाओंकी जड़ उसके अचेतन मनमें हैं। अचेतन मनसे ही हमारी गुप्त शक्तियोंका विकास हमारे चेतन या प्रत्यक्ष मनमें होता है।

'बजरंग-बाण' में पूरी श्रद्धा रखने और निष्ठापूर्वक उसके संकेत देनेसे (बार-बार दुहरानेसे) हमारे अचेतन मनमें हनुमान्‌जीकी शक्तियाँ जमने लगती हैं। शक्तिके विचारोंमें रमण करनेसे शरीरमें वही शक्तियाँ बढ़ती हैं। शुभ विचारोंको मनमें जमानेसे मनुष्यकी भलाईकी शक्तियाँ, उसका सत्-चित्-आनन्द स्वरूप खिलता जाता है। मामूली कष्टों और संकटोंके निरोधकी शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। साहस और निर्भीकता आ जाती हैं। इस प्रकार बजरंग-बाणमें विश्वास रखने और उसे काममें लेनेसे कोई भी कायर मनुष्य बदलकर निर्भय और शक्तिशाली बन सकता है।

बजरंग-बाणके श्रद्धापूर्वक उच्चारण कर लेनेसे मनुष्य शक्तिके पुंज महावीर हनुमान्‌को स्थायी रूपसे अपने मनमें धारण कर लेता है। उससे उसके सब संकट अल्पकालमें ही दूर हो जाते हैं।

साधकको चाहिये कि वह अपने सामने हनुमान्‌जीकी मूर्ति या कोई बड़ा चित्र रक्खे और उसपर पूरे आत्म-विश्वास और निष्ठाभावसे मानसिक ध्यान करे। मनमें ऐसी धारणा करे कि हनुमान्‌जीकी दिव्य शक्तियाँ धीरे-धीरे उसके अंदर प्रवेश कर रही हैं। हमारे अन्तर तथा चारों ओरके वायुमण्डल आकाशमें स्थित संकल्पके परमाणु उत्तेजित हो रहे हैं। ऐसे सशक्त वातावरणमें निवास करनेसे हमारे मनकी शक्ति बढ़नेमें सहायता मिलती है। जब यह मूर्ति मनमें स्थायी रूपसे उतरने लगे, अंदरसे शक्तिका स्रोत खुलने लगे, तभी बजरंग-बाणकी सिद्धि समझनी चाहिये। श्रद्धायुक्त अभ्यास ही पूर्णताकी सिद्धिमें सहायक होता है। पूजनमें हनुमान्‌जीकी शक्तियोंपर एकाग्रताकी परम आवश्यकता है।

पूजा कैसे प्रारम्भ करें ?

सबसे पहले अपने सामने हनुमान्‌जीकी मूर्ति अथवा चित्र रखिये और चन्दन, पुष्प, धूप आदिसे पूजनकर ध्यानसे उसे देखिये। श्रद्धाके साथ उन्हें प्रणाम कीजिये। फिर श्रद्धापूर्वक यह स्तुति दुहराइये—

अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि॥

'आप महावीर हैं। आपमें अतुल बल है। आपके बलको कौन तौल सका है। आप शारीरिक, आध्यात्मिक, नैतिक और हर प्रकारके उच्चतम बलकी साक्षात् मूर्ति हैं। आपकी यह पुष्ट सशक्त देह पर्वतके समान है। आपमें स्वर्णिम तेज देदीप्यमान है। आपकी देह वीर्यबलसे ऐसी दीप्तिमान् है, मानो सोनेका पर्वत चमक रहा हो। आप शक्तिमें राक्षसों (और समस्त आसुरी शक्तियों) के वनको जलानेके लिये भयंकर दावानलके समान हैं। आप ज्ञानियोंमें अग्रगी हैं। सकल शुभ दैवी गुणोंसे भरे हुए हैं। आप वानर-सेनाके अधीश्वर हैं। भगवान् रामके प्रिय भक्त हैं। आप स्फूर्तिमें पवन-जैसे हैं, पवनपुत्र ही हैं। अतः मैं कार्यसिद्धिके लिये, आपकी शक्ति प्राप्त करनेके लिये आपको नमस्कार करता हूँ।'

इस प्रकार हनुमान्‌जीका श्रद्धापूर्वक ध्यान करके निम्नलिखित 'बजरंग-बाण' का प्रेमपूर्वक उच्चारण करना

चाहिये। बार-बार दोहरानेसे यह याद हो जाता है और अधिक समय नहीं लगता।

यह है वह चमत्कारी बजरंग-बाण। आप इसके शब्दों और अर्थोंपर गौर कीजिये और प्रेमसे पढ़िये। प्रतिदिन दोहराइये।

बजरंग-बाण*

निश्चय प्रेम प्रतीति ते, बिनय करै सनमान।
तेहिके कारज सकल सुभ, सिद्ध करैं हनुमान॥

जय हनुमंत संत-हितकारी।
सुनि लीजै प्रभु बिनय हमारी॥
जन के काज बिलंब न कीजै।
आतुर दौरि महासुख दीजै॥
जैसे कूदि सिंधु के पारा।
सुरसा बदन पैठि बिस्तारा॥
आगे जाय लंकिनी रोका।
मारेहु लात गई सुरलोका॥
जाय बिभीषन को सुख दीन्हा।
सीता निरखि परम-पद लीन्हा॥
बाग उजारि सिंधु महँ बोरा।
अति आतुर जमकातर तोरा॥
अछय कुमार मारि संहारा।
लूम लपेटि लंक को जारा॥
लाह समान लंक जरि गई।
जय जय धुनि सुरपुर नभ भई॥
अब बिलंब केहि कारन स्वामी?
कृपा करहु उर अंतरजामी॥
जय जय लखन प्रान के दाता।
आतुर ह्वै दुख करहु निपाता॥
जय हनुमान जयति बल-सागर।
सुर-समूह-समरथ भट-नागर॥
ॐ हनु हनु हनु हनुमंत हठीले।
बैरिहि मारु बज्रकी कीले॥
ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं हनुमंत कपीसा।
ॐ हुं हुं हुं हनु अरि उर-सीसा॥
जय अंजनिकुमार बलवंता।
संकरसुवन बीर हनुमंता॥
बदन कराल काल-कुल-घालक।
राम-सहाय सदा प्रतिपालक॥
भूत, प्रेत, पिसाच, निसाचर।
अगनि बेताल काल मारी मर॥
इन्हें मारु, तोहि सपथ राम की।
राखु नाथ मरजाद नाम की॥
सत्य होहु हरि सपथ पाइ कै।
रामदूत धरु मारि धाइ कै॥
जय जय जय हनुमंत अगाधा।
दुख पावत जन केहि अपराधा॥
पूजा जप तप नेम अचारा।
नहिं जानत कछु दास तुम्हारा॥
बन उपबन मग गिरि गृह माहीं।
तुम्हरे बल हौं डरपत नाहीं॥
जनकसुता-हरि-दास कहावौ।
ता की सपथ, बिलंब न लावौ॥
जय-जय-जय-धुनि होत अकासा।
सुमिरत होय दुसह दुख-नासा॥
चरन पकरि, कर जोरि मनावौं।
यहि औसर अब केहि गोहरावौं॥
उठ, उठ, चलु, तोहि रामदोहाई।
पायँ परौं, कर जोरि मनाई॥
ॐ चं चं चं चं चपल चलंता।
ॐ हनु हनु हनु हनु हनु-हनुमंता॥
ॐ हं हं हाँक देत कपि चंचल।
ॐ सं सं सहमि पराने खल-दल॥
अपने जन को तुरत उबारौ।
सुमिरत होय अनंद हमारौ॥
यह बजरंग-बाण जेहि मारै।
ताहि कहौ फिरि कवन उबारै॥
पाठ करै बजरंग-बाण की।
हनुमत रच्छा करैं प्रान की॥
यह बजरंग-बाण जो जापै।
तासों भूत-प्रेत सब काँपै॥
धूप देय जो जपै हमेसा।
ता के तन नहिं रहै कलेसा॥

उर प्रतीति दृढ़, सरन ह्वै, पाठ करै धरि ध्यान।
बाधा सब हर, करैं सब काम सकल हनुमान॥

---

* कई प्रतियोंको देखकर आवश्यक सुधारके साथ छापा जा रहा है। —सम्पादक

उपर्युक्त बजरंग-बाणको कण्ठस्थ कर लेना चाहिये और कुछ दिनोंतक महाबली हनुमान्‌के चित्रके सामने श्रद्धापूर्वक उच्चारण करना तथा उनके गुणोंपर मनको केन्द्रित करना चाहिये। धीरे-धीरे ऐसा अनुभव होगा कि शरीरके अणु-अणुमें नये प्राण और नवीन चेतना फैल रही है, नयी शक्ति आ रही है। मानो शरीरमें साक्षात् हनुमान् ही विराज रहे हैं। यह अपनी शक्तियोंको विकसित करनेका आध्यात्मिक उपाय है।

कष्ट और संकटके समय, रात्रिमें शान्त निद्राके लिये, बच्चोंकी नजर उतारने, भूत-बाधा दूर करने, अकारण भयको नष्ट करनेके लिये और निर्विघ्न दिन व्यतीत करनेके लिये इस चमत्कारी बजरंग-बाणका प्रयोग किया जा सकता है। किसी महत्त्वपूर्ण कार्यपर जानेसे पहले इसे स्मरण करना सिद्धिमें सहायक होता है।

त्याग, संयम, साधन एवं तपके मूर्तिमान् स्वरूप संत श्रीसेवारामजी

आप लगभग तीस वर्षोंसे राजस्थान बीकानेरके समीप नापासरमें विराजते थे। गाँवमें प्रवेश नहीं करते, गाँवके एक ओर बाहर एक बाड़ामें रहते थे। कंचन-कामिनी दूर-दूर, आप धातुमात्रका भी स्पर्श करनेमें संकोच करते थे। कमण्डलुमें भी पीतलकी नलीकी जगह आपने लकड़ीकी नली लगवा रक्खी थी। आहार बहुत ही संयमित एवं कम मात्रामें करते थे। इधर बहुत वर्षोंसे रात-दिनके चौबीस घंटोंमें दो तोलेसे लेकर सवा पाँच तोलेतकका गेहूँके आटेकी बनी चीज खाते थे। भगवच्चर्चाके सिवा दूसरी बात न कहते, न सुनते। कभी कोई पुरुष अन्य प्रसङ्ग छेड़ देते तो उसे बंद करवा देते। आपने रामस्नेही-सम्प्रदायमें दीक्षा ली थी। आपके गुरुका नाम श्रीभूरारामजी था, जो बहुत अच्छे संत थे। वर्षोंसे उन्होंने अन्नका त्याग कर दिया था। स्वामी सेवारामजीको एकान्त बहुत ही प्रिय था। आपका श्रीमद्भगवद्गीताके 'युक्ताहारविहारस्य····(६ । १७) इस श्लोकके अनुसार जीवन चलता था। एक-एक मिनट समयका ध्यान था। दृष्टि-संयम तो इनके-जैसा बहुत ही कम देखनेमें आता है। चलते समय भी वे प्रायः सीमित देशमें देखकर चलते थे। पाँच-सात हाथसे आगे उनकी दृष्टि नहीं जाती थी। गीतामें वर्णित संत भक्तोंके लक्षणोंकी तो आप प्रत्यक्ष चल मूर्ति ही थे। अद्वेष्टा सर्वभूतानां····आदि गीतोक्त १२ । १३-१४ श्लोकोंके लक्षण आपमें प्रायः पूरी तौरसे घटते थे। पातञ्जलोक्त अष्टाङ्गयोगपर आपकी श्रद्धा थी और साधन भी उसीके अनुसार करते थे। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके नौ योगेश्वरोंका प्रसङ्ग, श्रीभगवान्‌का उद्धवजीके प्रति उपदेश एवं श्रीमद्भगवद्गीता आपके अत्यन्त प्रिय ग्रन्थ थे। शास्त्रोंका उपदेश ही आपका उपदेश था। सबमें भगवान् हैं, सब भगवद्रूप हैं—यह सिद्धान्त आपको बड़ा प्रिय था।

सबमें प्रभु-बुद्धि, माता-पिताकी, बड़े-बूढ़ोंकी, बीमारोंकी तथा अनाथोंकी सेवा, प्रभुके नामका हर समय जप, भगवान्‌के अवतारों और भक्तोंका स्मरण करके तीनों समय नमस्कार, सूर्यनारायण आदि विभूतियोंको साक्षात् प्रभु मानकर प्रणाम करना—यही सब आपके उपदेशोंका सार था। आप व्याख्यानदाता नहीं थे। जो-जो बातें लोगोंके हितकी समझते, उन्हें याद करके कह दिया करते। जितनी कहनी होती, उतनी ही कहते; समय थोड़ा दीखता तो कह देते 'आज तो इतनी ही याद की हुई थी, सारे पूरी हो गयी'। कोई कुछ प्रश्न करते तो उसका उत्तर प्रायः दो-चार दिन बाद ही देते। समझमें नहीं आता तो कह देते श्रीसेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका), श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) या श्रीस्वामीजी (श्रीरामसुखदासजी महाराज) से पूछो; मेरी समझमें नहीं आया।

नापासरमें आप सर्वप्रिय थे। आप किसी मतका खण्डन नहीं करते। प्रिय बात प्रिय शब्दोंमें बड़ी नम्रतासे

कहते। दूसरोंको मान देना आपका सहज स्वभाव बन गया था। देहावसानके लगभग बीस-पचीस मिनट पहले उनसे मिलनेके लिये एक सज्जन पधारे थे। उन्हें साथ लेकर मैं गया और उनसे कहा कि आपसे मिलने अमुक सज्जन पधारे हैं। सुनते ही आप अन्तर्वृत्तिसे बाह्यवृत्ति करके उनके सामने झाँके, हँसे और हाथ जोड़कर आपने नेत्र मूँद लिये। अन्त-समय आप सचेतन अवस्थामें थे। हृद्रोगके कारण दुर्बलता एवं व्यथा बहुत थी, पर उनकी सहनशीलतासे तो वह कम ही थी। उतनी व्यथामें वृत्ति प्रभुमें लगाना प्रभुके प्यारे भक्तोंको छोड़कर दूसरोंके लिये सुलभ नहीं। एक दिन मैंने पूछा, 'अब आपका शरीर कृश हो गया, अन्त-समय निकट-सा प्रतीत होता है। कुछ अखण्ड-कीर्तन, भागवत-पाठ या गीताजीके पारायणकी व्यवस्था करायी जाय क्या ?' तो बोले—'नहीं। भीतर गीताजी चालू है।' देहावसानसे कुछ ही दिनों पूर्व भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार एवं परम पूजनीय स्वामीजी श्रीचक्रधरजी महाराज स्वामीजीसे मिलने पधारे थे, तो उनका मिलाप बड़ा ही विलक्षण हुआ। हमलोग तो समझ ही नहीं पाये। श्रीभाईजीने कहा—'यह मूक सत्सङ्ग हो रहा है—

'समुझइ खग खग ही कै भाषा'

सत्सङ्गमें आनेवाले लोगोंसे आप कहते—"शास्त्रोंकी बातें, श्रीजी महाराज (भगवान्) की बातें सुलभ नहीं। ये तो भगवान्की कृपासे ही मिल रही हैं। कहाँ प्रभुके वचन ! इनको पढ़ो, समझो, पालन करो। करोगे, उतना ही लाभ है। आपलोग कहें कि 'हम तो गृहस्थ हैं, पालन नहीं होते' तो बतायी हुई बातें थोड़ी-थोड़ी ही पालन करो, स्वभाव तो पड़ेगा। बहुत तरहकी बातें हैं। एक-एक बातपर ध्यान देकर उसे जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करो। आज अभी अमुक तिथि है, अमुक समय है—कल यहाँ आओ, तबतक 'सबमें भगवान् हैं, सर्वत्र भगवान् हैं'। इस नियमपर जोर लगाओ—चेष्टा करो।" दूसरे दिन फिर सत्सङ्गी आते तो उनसे पूछते कि किस-किसने चेष्टा की और कैसा परिणाम रहा ? सब अपनी-अपनी परिस्थिति बतलाते। तब आप उनसे कहते कि 'अच्छा, अबसे लेकर कल यहाँ आओ, तबतक भगवच्चर्चाका नियम पालन करो। अन्य चर्चा चले तो उसे तुरंत छोड़ दो'। ऐसे उन्होंने बहुत-से नियम बना रक्खे थे, जिनका सत्सङ्गियोंसे पालन करवाते थे। उन नियमोंमें कुछ निम्नलिखित हैं—

सर्वत्र भगवद्भाव, भगवच्चर्चा, निरन्तर नाम-जप, शरणागति, शरीरके दोषोंका त्याग, वाणीके दोषोंका त्याग, मनके दोषोंका त्याग, किसीके बीचमें न बोलना, नेत्रोंका संयम, कानोंका संयम, आर्जव, क्रोध-त्याग, सबपर दया, ही—बुरे कामोंमें लज्जा, अचापल, क्षमा, शौच, अनानित्व, अदम्भित्व, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, निर्ममता, निरहंकारता, घृणाका त्याग, अनर्थका त्याग, असूयाका त्याग, विवादका त्याग, हँसी-मजाकका त्याग, आलस्यका त्याग, कृतघ्नताका त्याग, दोष-दर्शन तथा दोष-कथनका त्याग, कृपणताका त्याग, प्रेमभाव, सेवाभाव, श्रद्धा, आज्ञापालन, विधिवत् शयन, विधिवत् दाँतुन, विधिवत् कुल्ला, विधिवत् स्नान, विधिवत् भोजन, विधिवत् बैठना, विधिवत् चलना, युक्ताहार-विहार-शयन-जागरण—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

—श्लोकपर पूरा ध्यान, नमस्कार, ध्यान, संतोष, सदा प्रसन्नता, समता आदि।

इन विलक्षण मूर्ति महात्माका गत दिनाङ्क १७ अप्रैल, शुद्ध चैत्र शुक्ल ६, शुक्रवारको दिनमें लगभग ११॥ बजे देहसे सम्बन्ध छूट गया। संत वहीं पधार गये—'जहाँ संत सब जाहिं।' अन्त समयकी आपकी मुद्रा बड़ी विलक्षण थी। भयावनी तो क्यों होती ! आकर्षक एवं मनोहर मूर्ति थी।

—पं० हरिप्रसाद

मैं गोपी गोपीनाथकी

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम' साहित्याचार्य)

जाने कबसे भटक रही थी भ्रान्ति-भँवरमें भूलमें ?
बहती रुकती ठहर न पाती मझधारामें कूलमें ।
फूल समझती थी काँटेको काँटा देखा फूलमें,
मधुर अमृत फल खोज रही थी अरणी और बबूलमें ॥
संत-कृपा ! ध्वनि पड़ी कानमें प्रियतमके गुण-गाथकी,
सहसा आयी याद अहो ! मैं गोपी गोपीनाथकी ॥

मैं ही केवल नहीं संगिनी ! तुम भी गोपकिशोरिका,
गोप एक गोपीवल्लभ हैं, बाकी सब हैं गोपिका ।
प्रेममार्गकी अनन्यताके व्रतकी हम सब रोपिका,
सावधान ! इस मर्यादाकी बनो नहीं तुम लोपिका ॥
याद रहे—'हम सब चेरी हैं, उन अनाथके नाथकी ।
मैं गोपी गोपीनाथकी ॥

भूल गयीं तुम अरी गोपियो ! अपने प्रेम-प्रबन्धको,
अपने उस स्वरूपको भूलीं अपने उस सम्बन्धको ।
अन्धकूप है घोर सामने, ठहरो ठहरो बावली !
तुम अंधी-सी चली जा रहीं बना अग्रणी अन्धको ॥
डिगने दो मत पाँव कभी ! तुम रख लो लज्जा माथकी ।
मैं गोपी गोपीनाथकी ॥

याद करो—उस परम व्योमको सच्चित् सुखमय धामको,
विरजातटको, गोवर्धनको, गौओंको, घनश्यामको ।
रसिक प्रिया-प्रियतमको उनकी लीला ललित ललामको,
अष्टयाम सेवाको उनकी उनके पावन नामको ।
प्राणसँघाती वे हम सबके हम हैं उनके साथकी ॥
मैं गोपी गोपीनाथकी ॥

जगके वैभव-भोग लुभाते ? भोग नहीं ये रोग हैं !
प्रेमधामसे दूर सदा ही भवके भोगी लोग हैं ।
योगी जाते सिर्फ वहाँपर प्रेम वहाँका योग है,
जिससे सुलभ युगल प्रियतमकी सेवाका संयोग है ॥
सूत्रधार हम-सबके वे, हम पुतली उनके हाथकी ।
मैं गोपी गोपीनाथकी ॥

शोकके क्षणोंमें

(श्रीविलियम ए० क्लफ, अमेरिका)

अभी हालहीमें मुझे अपनी एक धर्मबहिनका पत्र मिला है, जिसमें उसने अपने एक प्रियजनकी मृत्युसे हुए शोक एवं सूनेपनका उल्लेख किया है। वह लिखती है—'मुझे बड़ा सूनापन अनुभव हो रहा है। मैं उसके बिना कैसे जीवित रह सकती हूँ ?'

इस प्रकारके शोकके उद्गार हृदयको बहुत स्पर्श करते हैं और स्वजन ऐसे शोकाकुल व्यक्तियोंको सान्त्वना एवं सहानुभूतिके शब्द भेजते हैं। अपने किसी प्रिय-जनके भौतिक सहवाससे सदाके लिये वञ्चित हो जानेसे उत्पन्न सूनेपन एवं शोकका जिनको जीवनमें कुछ अनुभव है, वे लोग ऐसे शोकाकुल व्यक्तियोंकी व्यथाका अनुभव कर पाते हैं।

हम सभीके जीवनमें दुःखोंके अवसर आते हैं और इनमें अवस्था एवं स्थानकी अपेक्षा नहीं होती। दुःख सबके लिये अवश्यम्भावी नहीं है; किंतु सामान्यतः सभीको दुःख प्राप्त होता है। अपने स्वजनकी मृत्युसे उत्पन्न शोकके अवसर ही अधिक आते हैं और निश्चय ही मानवजीवनकी समस्याओंमें शोकका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

किंतु जैसे प्रत्येक छोटी-बड़ी समस्याका कुछ-न-कुछ समाधान है, वैसे ही शोकपीड़ित प्रत्येक हृदयके लिये सान्त्वना, क्षतिपूर्ति एवं आनन्दकी व्यवस्था है। प्रत्येक वियुक्त एकाकी व्यक्तिके लिये तथा प्रत्येक दुखी मनुष्यके लिये संतोंके ये शब्द बड़े आश्वासनके हैं—'शोकप्राप्त व्यक्ति भाग्यशाली हैं; क्योंकि उन्हें भगवान्‌की ओरसे सान्त्वना प्राप्त होती है'। संत ऐसा नहीं मानते कि मनुष्यको 'शोक प्राप्त नहीं होता' प्रत्युत उनका कथन है—'शोकमें उसे भगवान्‌की ओरसे सान्त्वना प्राप्त होती है।'

शोक प्राप्त होना दुर्बलता नहीं है; क्योंकि महान्-से-महान् व्यक्ति भी शोकसे भीषण स्थितिको प्राप्त हुए हैं। किंतु उन्होंने अपनी महानताका परिचय इसमें दिया कि शोकको पराभूत करके वे उससे ऊपर उठ गये और अपने स्वरूप—आनन्दको अपना लिया। शोक मानवीय है, आनन्द दैवी; शोक मानवीय स्वभावका एक दुर्बल अङ्ग है, जब कि आनन्द दैवीस्वभावका सुदृढ़ लक्षण। शोक आगन्तुक है और आनन्द स्वरूप।

मैं अपने किसी स्वजनसे यह नहीं कह सकता—'आपको शोक प्राप्त नहीं करना चाहिये, ऐसा करना भूल है।' मैं उसे यही कह सकता हूँ—'आपको शोक करते नहीं रहना चाहिये; क्योंकि यह आपके लिये हानिप्रद सिद्ध होगा।' जो शोकप्राप्त हैं, वे भाग्यशाली हैं; क्योंकि भगवान्‌की ओरसे आनेवाली सान्त्वना उनके शोकको हटाकर उन्हें एक उच्च स्तरपर ले जाकर खड़ा कर देती है, जहाँपर उनकी दृष्टि अधिक स्वच्छ एवं दृष्टिकोण अधिक व्यापक हो जाता है। ईश्वरकी ओरसे आनेवाली सान्त्वनाको अपनानेमें असफल सिद्ध होना अनुचित है।

दीर्घकालतक शोकसे संतप्त होते रहना यह सूचित करता है कि उसमें हमारा अपना बहुत अधिक लगाव है। वस्तुतः उस दशामें हम मृतात्माके लिये संतप्त न होकर अपने लिये संतप्त होते हैं। अंग्रेजीमें शोकका समानार्थ शब्द Mourning है। यदि इसमेंसे U अक्षर निकाल दिया जाय तो यह Morning हो जायगा, जिसका अर्थ है—'नवीन दिवसका प्रभात।'

संतोंके जीवनमें भी शोकके अवसर आये हैं; किंतु शोकका प्रभाव उनपर क्षणिक ही रहा है। उन्होंने शोककी अल्पकालीन रात्रिके पश्चात् महान् प्रभातके ही दर्शन किये हैं।

आप पूछते हैं कि 'मैं अपने शोकपर किस प्रकार विजय प्राप्त करके उससे ऊपर उठ सकता हूँ ?' जैसे उपर्युक्त धर्मबहिनने पूछा है—'मैं उनके बिना कैसे जीवित रह सकती हूँ ?'

शेक्सपियरने कहा है—'सभी शोकपर विजय प्राप्त कर सकते हैं, केवल उस व्यक्तिको छोड़कर जो शोक-से घिरा है।' (Everyone can master a grief but he that has it.) इसी प्रकार किसी शोक-संतप्त व्यक्तिके प्रश्नका उत्तर देते चलना विडम्बना-

मात्र है, जबतक हम स्वयं उनकी परिस्थितिका अनुभव न कर लें ।

मैं अपनेको अपनी धर्मबहिनके स्थानपर अनुभव करना चाहता हूँ । मैं यह अनुभव करनेका प्रयत्न करता हूँ कि उस समय मुझे कैसा लगेगा जब मेरी पत्नी एवं इकलौता पुत्र मुझसे छीन लिये जायँगे । क्या उस समय मैं अपने शोकको पराभूत करके जीवनका कोई नवीन या उच्च अर्थ लगा पाऊँगा ? क्या उस समय शोककी रात्रिके पीछे प्रभातका प्रकाश देख पाऊँगा ? इन सब प्रश्नोंका उत्तर मैं 'हाँ'में दूँगा; क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरे स्वजन—पत्नी एवं पुत्र—मुझसे छीने नहीं जा रहे हैं और न वे मुझसे पृथक् ही हो रहे हैं । मैं यह मानता हूँ कि भगवान् शोकमेंसे मुझे किसी उच्च आध्यात्मिक स्तरपर ले जायँगे और उस उच्च स्तरपर मेरे स्वजन मुझसे अधिक निकट तथा मेरे लिये अधिक प्यारे होंगे, जैसे कि वे कभी नहीं रहे । मैं उन्हें आत्माकी दृष्टिसे देखूँगा और इस नाते मैं उनकी प्रत्यक्ष उपस्थितिका अनुभव करूँगा ।

इस लेखको आरम्भ करनेके पूर्व मुझे अपनी एक धर्मबहिनके चल बसनेका समाचार मिला है, जिसने मातारूपमें दो छोटे बच्चे तथा पत्नीरूपमें पतिको छोड़ा है, जो सामान्य पतियोंकी अपेक्षा अत्यधिक मात्रामें उसपर आश्रित था । पति एक मन्त्री है और उन दोनोंका जीवन जन-कल्याणमें तत्परतासे संलग्न था ।

सम्भव है वह अपने आघातके समय कहे, जैसा कि मैं-आप भी कह सकते हैं—'यह आघात मुझपर क्यों हुआ जब मैं अपनी जानमें सर्वोत्तम कार्य कर रहा था ?' किंतु मैं जानता हूँ, शोककी अपेक्षा श्रद्धाका तत्त्व उसमें प्रबल है । लौकिक सहारा टूट जानेसे, जैसे-जैसे वह भगवान्‌पर अधिक निर्भर करेगा, वैसे-वैसे वह महान् शुभकी ओर बढ़ता जायगा ।

मेरे पूज्य पिताजी एवं माताजीका वैवाहिक सम्बन्ध करीब पचास वर्ष पूर्व हुआ था और जब मेरे पूज्य पिताजी जीवन-यात्राकी समाप्तिपर पहुँचे तो मेरी माँ महीनोंतक रात-दिन उनकी सेवामें संलग्न रही; किंतु वह कभी भी हतोत्साह नहीं हुई और न कभी उसने आँसूकी एक बूँद, कम-से-कम हमलोगोंकी उपस्थितिमें, बहायी ।

उसने कहा—'मैं जानती हूँ कि वे अपनी कब्रमें ठंडे एवं अकेले नहीं हैं, वे किसी उच्च स्तरपर गये हैं, जहाँ उनमें उष्णता है और वे पुनः स्वस्थ हो गये हैं । वे अब भी मेरे समीप हैं । मैं उनके लिये शोक नहीं करूँगी ।'

यह न तो इच्छाशक्तिका चमत्कार है और न कोई मिथ्या कल्पना है, जो उसके उत्साहको बनाये हुए है; न उसमें भावुकताका ही अभाव है, वह बड़ी भावुक है । यह उसका विश्वास, दृढ़ स्थिर विश्वास है । यह वह शक्ति है जो उस असीम उद्गमसे प्राप्त होती है । यही जीवनका वास्तविक आधार है । वह अपनी अनुभूतिकी गहराईमें ऐसा विश्वास करती है कि भगवान्‌के संरक्षणमें वह और उसके पतिदेव दोनों सुरक्षित हैं ।

वर्षों बाद जब वह स्वयं इस भौतिक स्तरको छोड़कर उच्च स्तरमें गयी तो वह बपौतीके रूपमें हमारे लिये शोक नहीं छोड़ गयी थी । वह सदा विजयी विश्वासका आदर्श ही हमारे लिये छोड़कर गयी है ।

जो भी उसके आशीर्वादकी परिधिमें आये हैं, उनपर वह आत्माकी अमरताका संदेश छोड़ गयी है । यह प्रभाव उन लोगोंपरसे न हटता है और न कभी हटेगा ही । जब हमसे कोई वियुक्त नहीं हुआ तो शोकके लिये कोई कारण नहीं—

मृत्यु एक खुला द्वार है,
हम एक कक्षसे दूसरे कक्षमें जाते हैं,
जीवन एक शाश्वत कड़ी है,
न मृत्यु है, न जीवनकी अन्त्येष्टि है ।

जैसे भगवान् भगवान् है, वैसे ही चेतन आत्मा सदा चेतन आत्मा ही है; फिर उसके सम्बन्धमें हमारी धारणा चाहे कुछ भी क्यों न हो ।

जीवन-संगीतकी मौतिक तन्त्री आस्तिकता है, चाहे इस लौकिक जीवनकी बात हो या पारलौकिक

जीवनकी । जन्म और मृत्यु दोनोंके तथाकथित रहस्योंके सम्बन्धमें, अमरताके सम्बन्धमें, दिवंगतोंमें तथा हमलोगोंमें रहनेवाले अविनाशी आत्मतत्त्वके सम्बन्धमें तथा भगवान्‌के निर्दोष संकल्पके सम्बन्धमें स्वीकारात्मक उत्तर ही आस्तिकताका स्वरूप है ।

हम अपने परिचित समुदायमें दृष्टि डालें तो हमें स्वजनकी मृत्युपर होनेवाली विभिन्न प्रतिक्रियाओंके दर्शन होते हैं । कुछ लोग शोकको अपनेपर छा जाने देते हैं, जब कि दूसरे लोग अपने विश्वासके द्वारा उसे धो-बहाते हैं ।

मैं दो स्त्रियोंको जानता हूँ जिनकी अवस्था प्रायः समान है । दोनों ही अपने छोटे बच्चोंसहित वैधव्यकी शिकार हुईं । एक चिन्ता-सागरमें डूब गयी और निरन्तर अपनी क्षतिका एवं जिन कठिनाइयोंमें जीवन बीत रहा है, उनका बखान करती रही, वह अपने बच्चोंकी ठीकसे सँभाल करनेकी अपनी असमर्थताके लिये रोती रहती और अपने सम्बन्धियोंसे बिना कुछ कृतज्ञता प्रकट किये ही आर्थिक सहायता स्वीकार करती । वह जीवनकी कठिनाइयोंसे संघर्ष करती हुई हताश-जीवन व्यतीत करती । उसके बच्चे अपेक्षाकृत कम संरक्षण एवं सुविधामें ही पल रहे थे । जीवनकी कटुता एवं दुःखके कारण वह अवस्थासे पूर्व ही वृद्ध हो गयी ।

दूसरी महिलाने दुःख पड़ते ही उसको एवं उससे उत्पन्न जिम्मेदारियोंको साहसपूर्वक अपनाया । वह प्रार्थना और अध्ययनमें लगी और थोड़े दिनोंमें उसने पूरे समयके लिये अध्यापनका कार्य प्राप्त कर लिया, वह सामाजिक एवं धार्मिक सुधारमें सहयोग देने लगी और उसके कारण लोगोंमें भी अच्छाई भरने लगी । साथ ही वह परिवारको भी ठीकसे चलाने लगी । उसने भगवद्-विश्वासको अपना आधार बनाया और उससे उसको बल एवं सान्त्वना मिली ।

दोनों महिलाओंके सामने एक-सी कठिनाई थी—एकने निराशा और आत्महीनताका तथा दूसरीने आस्तिकता और आत्मविश्वासका जीवन अपनाया ।

भगवान्‌पर विश्वास एवं कर्ममें संलग्नता बड़े-से-बड़े शोकको तिरोहित कर देते हैं । हम भगवान्‌की संतान हैं और भगवान्‌की ओरसे अपनी संतानके लिये केवल सुखकी ही व्यवस्था है । भगवान् कभी हमारे लिये दुःख-विषाद नहीं भेजते, अपितु जब कभी हम अपनेपर दुःखको बुलाते हैं या किसी अप्रत्याशित कारणसे हमें दुःख प्राप्त होता है तो भगवान् उसे अवश्य दूर करते हैं । वे हमारे पीड़ित हृदयको सान्त्वना देते हैं ।

भगवद्विश्वास दुःखकी तीव्रताके समय हठात् हमारे मुखसे निकले प्रश्नोंका उत्तर है । भगवद्विश्वास सदा विजयी है । भगवद्विश्वास हमें यह बताता है कि आत्मा अमर है तथा प्रेम मृत्यु एवं समयका अतिक्रमण कर नित्य रहता है । भगवद्विश्वास हमें बताता है कि मृत्यु भयावह नहीं है और न यह जीवनका अन्तिम महान् संकट है, जैसा कि हम बहुधा मानते हैं । भगवद्विश्वास बताता है कि मृत्यु नवीन-जीवनका द्वार है, अबाध आध्यात्मिक उत्थानकी एक अवस्थामात्र है ।

आपका बिछुड़ा हुआ प्रेमपात्र जीवित है और आत्माकी भाषामें, प्रेमकी भाषामें आत्माके साथ वार्तालाप कर सकता है । हम नहीं जानते कि यहाँसे जानेके बाद जीव क्या स्वरूप ग्रहण करता है । इसके लिये सिद्धान्त अवश्य निश्चित हैं, पर हमें वे ज्ञात नहीं । हम केवल एक बात जानते हैं—जीवन भगवान्‌के साथ नित्य गतिशील है, आत्मा अमर है ।

मैं नहीं जानता कि कल अथवा आगामी क्षण मेरे लिये क्या लेकर आयेंगे ? किंतु मैं जानता हूँ कि मुझे उससे भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि भगवान् उसमें हैं । मैं नहीं जानता मृत्युके बाद कैसा जीवन प्राप्त होता है, परंतु मेरा विश्वास है कि वह शुभ है; क्योंकि शाश्वत पिता उसमें विद्यमान हैं । मैं नहीं जानता कि जब मेरी आत्मा इस शरीरको छोड़कर जाती है तो उसकी क्या दशा होती है, किंतु मेरा विश्वास है

कि यह भगवदीय नियमके अनुसार ही गतिशील है और मृत्युके बाद भी यह विद्यमान रहती है ।

संतोंने आत्मजीवनकी शाश्वततापर बहुत जोर दिया है । भगवान्की इच्छासे ही हमें जीवन—पूर्ण जीवन प्राप्त होता है । हम अज्ञानके कारण ही जीवनकी एक झाँकीको अधिक महत्त्व देकर उसके अन्तकी झूठी कल्पना कर बैठते हैं । वस्तुतः जीवन शाश्वत है और किसी भी परिवर्तनसे उसमें बाधा नहीं आती ।

आपके प्रेमपात्र जीवित हैं, गौरवके साथ जीवित हैं । उनके लिये शोक करते रहनेकी आवश्यकता नहीं है । उनकी भव्य मुखाकृतिके सामने आप अपनी दुखी विषादयुक्त मुखाकृति उपस्थित न करें । आप अपने और अपने प्रेमपात्रके बीच शोकका पर्दा डालकर उन्हें पृथक् न करें ।

भगवान्पर विश्वास करें और उनकी प्रार्थनाकी शरण लें । अनुभव करें कि आपके बिछुड़े प्रेमी प्रेम, कृतज्ञता और समादरके साथ परम पिताके पास हैं, यद्यपि उनका यह जीवन परिवर्तित हो गया है, पर इस परिवर्तनका उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं है । भगवान्के प्रकाशकी ओर अपना मुख कीजिये । अपने प्रेमीको अदृश्य परमात्म-शक्तिकी सन्निधिमें रहनेवाले समुदायमें देखिये । आशाको अपनाइये, यह भगवद्विश्वासका गुण है, अनुभव कीजिये—मेरा प्रेमपात्र भगवान्के संरक्षणमें है । मैं ईश्वरके संरक्षणमें रहता हुआ जीवन-संग्रामको पूरा करूँगा ।

मैं अपने भावी जीवनके लिये चिन्तित नहीं हूँ; क्योंकि मैं सच्चे हृदयसे मानता हूँ कि महान् शाश्वत अनुभूति ही जीवन है, जिसका एक अंश प्रकट है, दूसरा अप्रकट, और सम्पूर्ण जीवन भगवान्की निर्धारित अवधिमें प्रकट हो जायगा ।

जब कभी मेरा कोई प्रियजन इन भौतिक आँखोंसे ओझल होता है और जीवनके उस पार यात्रा आरम्भ करता है, तो मैं भगवद्विश्वासकी अन्तर्दृष्टिसे अनुभव करता हूँ कि वह जीवित है, अच्छी अवस्थामें है और नित्य भगवान्के साथ है । ('युनिटि'से)

मृत्यु बनकर तुम्हीं आते हो

मृत्युरूप बन तुम ही आते मेरे नित्य परम प्रिय नाथ !
वेश बदल देते बाहरका, पर न छोड़ते पल भर साथ ॥
दूर समीप कहीं ले जाते नरक स्वर्ग इच्छा अनुसार ।
सुखी बनाते रहते, देते निज आलिंगन बारंबार ॥
मृत्यु-साजमें भी देखूँगा मैं प्रिय मधुर रूप अभिराम ।
निर्भय, सुखमय आलिंगन पा बन जाऊँगा मैं सुखधाम ॥
डरते रोते हैं वे ही, जो सकते नहीं तुम्हें पहचान ।
भीषण मरण-साज सज तुम ही आते मधुर मंजु भगवान ॥
जीवन-मरण सभी नित प्रियतम मधुर तुम्हारे ही हैं खेल ।
सबमें ही है नित्य तुम्हारा परमानन्द-सुधामय मेल ॥
जगत्, जगत्के परिवर्त्तन सब हैं अभिव्यक्ति तुम्हारी नाथ !
तुमसे बने, बने तुमही हो सब, तुम ही हो रहते साथ ॥
जगमें दो ही वस्तु सत्य हैं—लीलामय, लीला निर्मान ।
लीला-लीलामय अभिन्न हैं नित सच्चिदानन्द भगवान ॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

भगवन्नामका अमोघ परिणाम

करीब दो साल पहलेकी बात है। मेरे मकानके सामने एक पंजाबी सज्जन रहते थे। रातको दो बजे मुझे बुलाने आये, बोले—'मेरा दौहित्र बीमार है और उसकी हालत बहुत खराब है।' मैं तुरंत गया। लड़का छः-सात सालका था। स्थिति शोचनीय थी। मैं भी हताश हो गया। क्या किया जाय, क्या दवा दी जाय, कुछ समझमें नहीं आया। इतनेमें ही धन्वन्तरि भगवान्‌के ये वचन याद आ गये—

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

मैंने घरके सब लोगोंको हटा दिया और लड़केका हाथ अपने हाथमें लेकर 'अच्युत, अनन्त, गोविन्द'—इन भगवन्नाम-मन्त्रोंका मन-ही-मन जप करने लगा। एक घंटे भर जप चला था कि लड़का उठ बैठा और हँसने लगा। सब लोग आ गये। मैंने कहा—'भगवान्‌की कृपासे लड़का अच्छा हो गया'। यह लड़का अब भी जीवित है और सकुशल है।

इस मन्त्र—'अच्युत, अनन्त, गोविन्द'को सिद्ध कर लेना चाहिये। सिद्ध करनेकी विधि यह है—आश्विन मासमें धनत्रयोदशीके दिन स्नानादिसे पवित्र होकर आसनपर बैठ जाय और शुद्ध घीका दीपक जलाकर उपर्युक्त मन्त्रका १२८००० (एक लाख अट्ठाईस हजार) जप पूरा कर ले। एक दिनमें न हो तो दूसरे दिन दूध पीकर कर ले। जप पूरा होनेपर इसी मन्त्रसे कुछ होम करे और यथाशक्ति एक या अधिक पवित्र ब्राह्मण या संतोंको भोजन करा दे। बस, मन्त्र सिद्ध हो गया। इस मन्त्रका प्रयोग कभी पैसेके लिये न करे।

—एक वृन्दावनवासी बाबा

(२)

ग्रामीण चमारिनकी ईमानदारी

लगभग दो महीने पूर्व चखनी (बगहाके पास) के पादरी साहब बेतिया बैंकसे २८०००) रुपयेका भुगतान लेकर मोटर-साइकिलसे लौरिया पिरोडसे जा रहे थे। भूलसे उनका मनी-बैग शनीचरी चौकसे कुछ दक्षिण ही गिर पड़ा, जो तत्काल उन्हें माळूम भी न हो सका। बहुअरआ ग्रामकी एक बुढ़िया चमारिनने उसे पाया और वह अपने घर ले गयी। वहाँ उसने खोलकर देखा तो उसमें नोट-ही-नोट भरे थे। बुढ़ियाने पादरी साहबको जाते देखा था। अतः वह समझ गयी कि यह उन्हींका है। वह तुरंत ही फिर सड़ककी ओर इस अभिप्रायसे आयी कि वे लौटें तो उनसे यह बात कह दूँ।

किंतु कुछ दूर आगे जानेपर जब पादरी साहबको बैग गिर जानेका ध्यान आया तब वे शीघ्र ही वापस लौटे तथा बुढ़ियाके फिर सड़कपर आनेसे पहले ही वे बेतियाकी ओर चले गये। वहाँ (बेतिया) थानेमें इसकी इत्तला दी और लौरिया थानेमें भी फोन करवाया। यह सब करके वे फिर वापस लौटे, तबतक बुढ़िया उनकी प्रतीक्षामें सड़कपर बैठी रही। उन्हें आते देख उसने रोका और सब हाल कह सुनाया। पादरी साहब उसके साथ उसके घरतक गये। बुढ़ियाने उनका बैग उन्हें सौंप दिया। उन्होंने देखा तो सब रुपये ठीक थे। पादरी साहब तीन हजार रुपये उसे देना चाहते हैं, जिसकी जमीन ठीक होनेपर उस बुढ़ियाके नातीके नामसे खरीदी जायगी; क्योंकि उसका दूसरा कोई वारिस नहीं है। सुना है—उसके घर (झोंपड़ी) की भी मरम्मत उनके द्वारा करायी गयी है!

इस घोर कलिकालमें भी कुछ ऐसी शुचिता-सम्पन्न (ईमानदार) आत्माएँ विद्यमान हैं, जो कठोर प्रलोभनकी

स्थितिमें भी अपने मानवीय कर्तव्योंको कथमपि नहीं भुला पातीं; यद्यपि आधुनिक शिक्षित सभ्य-नामधारी समाजमें उन्हें अशिक्षित तथा असभ्य ही समझा जाता है। भगवान् करें कि वह कुशिक्षा ही यहाँसे सर्वथा दूर हो, जो आत्मा-जैसी अमूल्य निधिको लुटाकर नश्वर क्षणिक सुख-विलासोंकी ओर अग्रसर होनेकी प्रेरणा देती है। किसी कविने ठीक ही लिखा है—

जन्मैव वन्ध्यतां नीतं भवभोगोपलिप्सया।
काचमूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणिर्मया॥

—नन्दकिशोर झा

(३)

सेठकी सुहृदता

कुछ वर्षों पहलेकी बात है। राजस्थानके एक कस्बेमें एक सेठके पास एक अपरिचित सज्जन बहुत आवश्यक होनेपर बहुत अधिक कीमतकी हँसली बंधक रखकर सात सौ रुपये उधार लेने आये। सेठने उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करके कहा—'सात सौ रुपये ले जाइये, हँसलीकी कोई आवश्यकता नहीं है।' पर वे नहीं माने। तब हँसली रखकर उन्हें सात सौ रुपये दे दिये गये। सेठने हँसली अपनी पुत्रवधूके पास रखवा दी। हँसलीके साथ ही उन सज्जनका नाम-पता लिखा था।

इसके बाद काफी समय बीत गया। वे सज्जन रुपये देकर हँसली छुड़ाने नहीं आये। इधर सेठ बीमार रहने लगे। उनके एक अङ्गपर लकवा मार गया। अब सेठ बड़ी चिन्तामें पड़े और सोचने लगे कि उक्त सज्जनके पास सात सौ रुपयेकी व्यवस्था नहीं हो सकी होगी, इससे वे हँसली लेने नहीं आये। हँसली ज्यादा कीमतकी है। वे बेचारे हँसलीसे वञ्चित हो जायँगे तो उनका बड़ा नुकसान होगा। सेठको उन सज्जनका नाम-पता तो याद रहा नहीं, पर वे बार-बार उनकी याद करके बड़ा दुःख प्रकट करते। एक दिन पुत्रवधूने उनकी बात सुनकर कहा कि 'उनका नाम-पता तो हँसलीके साथ ही मेरे पास लिखा है'। यह जानकर सेठको बड़ी प्रसन्नता हुई और वे लकवाकी बीमारीकी हालतमें ही मोटरपर सवार होकर हँसली लेकर उक्त सज्जनके गाँव पहुँचे। उन्होंने वहाँ जाकर उनसे कहा—'आप अपनी हँसली ले लीजिये, रुपयेकी व्यवस्था नहीं हो सकी तो कोई भी संकोचकी बात नहीं है।' वे बेचारे तो यह देख-सुनकर आश्चर्य-चकित हो गये। उन्होंने हँसली लेनेसे इनकार किया। पर सेठ माने नहीं, उन्हें हँसली देकर ही आये और इससे उन्हें बड़ा संतोष प्राप्त हुआ। वे सज्जन तो गद्गद हो गये।

—एक जानकार

(४)

कुछ अनुभूत अमोघ दवाएँ

१. आधाशीशी—रात्रिको सोनेसे पूर्व एक छटाँक चीनी या चीनीका बूरा पावभर पानीमें घोलकर ढककर रख दे। ऐसा ढके जिसमें चींटी आदि न लग जाय। प्रातःकाल सूर्य-उदयसे एक घंटा पहले जलको अच्छी तरह हिलाकर पी जाय। बस, आधाशीशी गयी। यह अनुभूत है।

२. तिजारी (एकान्तरा) ज्वर—आनेके दिन दो घंटे पहले, रोगीको थोड़ा-सा गुड़ लेकर अपने पास बुला ले; फिर थोड़ी-सी भुनी हुई फिटकरी गुड़में डालकर भगवान्‌के नामका उच्चारण करते हुए उसकी गोली बनाकर रोगीको खिला दे। ऊपर थोड़ा-सा जल पिला दे। इससे एकान्तरा नष्ट हो जाता है।

३. उदररोग—प्रतिदिन प्रातःकाल गाय (काली गौ हो तो सर्वोत्तम) का पहली दफेका मूत्र मिट्टी, काँच या चीनी माटीके बरतनमें लेकर उसमेंसे छानकर केवल एक छटाँक गोमूत्र पी ले। चालीस दिनोंतक नियमित पीना चाहिये। इससे पेटके सारे रोग दूर होते हैं।

४.(क) **उदरशूल**—कच्ची फिटकरी दो माशा एक तोला शुद्ध शहदमें बारीक पीसकर उसे चटा दे। १५ मिनटमें आराम हो जाता है।

(ख) **नाभिके नीचेका शूल (वृक्-शूल)** एक मुनक्का लेकर उसमेंसे बीज निकाल दे और बीजकी जगह एलुवा रखकर उसे रोगीको निगलवा दे। ऊपरसे थोड़ा-सा जल पिला दे। पाँच ही मिनटमें आराम होता है।

—श्रीराधेश्याम मौनी बाबा बंशीवाला, वंशीवट, वृन्दावन।

(५)

नायलोनका बुरा फल

हमारे एक सम्बन्धीकी बहिन अंकलेश्वरमें जल गयी थी। तार मिलते ही मैं वहाँ गयी। नायलोनकी साड़ी पहने बहिन रसोई बना रही थी, स्टोव जमीनपर था। किसी चीजको लेने गयी थी कि साड़ीके एक छोरको आगने पकड़ लिया। फिर तो नायलोन जलकर सारे शरीरके चिपट गया। जलनेके बाद पुकार मचाती बहिन बाहर दौड़ी आयी, तबतक तो नायलोनकी साड़ी शरीरसे ऐसी चिपक गयी कि अस्पतालमें जब उसका पोस्ट-मार्टम किया गया तो चिमटीसे खींच-खींचकर नायलोनके टुकड़े शरीरसे निकाले गये। यह दृश्य इतना करुण था कि मेरी तो आँखें तिरमिरा गयीं। नायलोन जितना सुन्दर तथा सुविधा-भरा है, उतना ही हानिकारक और प्राणहारी है।

दूसरा प्रसंग यह है कि मेरे गलेमें दर्द होनेके कारण मैं एक दिन बंबई अस्पतालमें गयी थी। वहाँ एक बहिनको देखा, जिसकी छाती और हाथ बुरी तरह जले हुए थे। गरदनके ऊपरकी चमड़ी और गाल भी जले थे। गरदनकी नसें जलकर छोटी हो गयी थीं। पूरा मुँह नहीं खुल पाता था। पूछनेपर पता लगा कि वह बहिन नायलोनकी चोली पहनकर बाहर जा रही थी। इतनेमें दूधवाला आ गया। दूध गरम करनेको रक्खा। उतारते समय सँड़सीके बदले बहिन साड़ीसे ही तपेली उतारने लगी। इसीमें एक छोर जल उठा और बहुत प्रयत्न करनेपर भी नायलोनकी चोली शरीरसे उतरी नहीं। शरीरसे नायलोन चिपका था, इसीसे वह इतनी जल गयी। सुन्दर नायलोनके पीछे कितनी करुणा भरी है। एक बहिन नायलोनके मोजे सदा पहने रहती, इससे उसको चर्मरोग हो गया।

—देवल सरैया

(६)

व्यापारमें उदारता

कुछ वर्षों पहलेकी बात है। जयपुर महाराजके महलको सजानेके लिये बंबईकी दो प्रसिद्ध फर्मोंको फर्नीचर लगानेका आर्डर दिया गया। दोनों ही फर्में फर्नीचर बनानेमें निपुण तथा एक दूसरेसे बढ़ी-चढ़ी थीं। संयोगवश फर्नीचरको पालिश करने तथा फिटिंग करनेके लिये दोनों ही फर्मोंके कारीगर एक ही साथ जयपुर पहुँच गये और अपने-अपने जिम्मेके अलग-अलग कमरोंके सजानेका काम धड़ाकेसे चलाने लगे। प्रतिद्वन्द्वीकी तरह दोनों फर्मोंके कारीगर एक दूसरेके कामकी शिकायत महलके मास्टरसे करते और मास्टरके द्वारा बात महाराजा तक पहुँच जाती।

एक दिन सवेरे स्वयं महाराजा फर्नीचर देखने आये। उस समय एक फर्मके मालिक भी आये हुए थे। उन्होंने अपने मालकी बड़ी प्रशंसा करते हुए दूसरी फर्मके लिये कहा कि उसने लकड़ी बहुत हल्के दर्जेकी बरती है। यों महाराजके कानमें जहर भर दिया। महाराजाने उस फर्मको पत्र लिखा कि वह अपना फर्नीचर वापस ले जाय और एडवांसमें दिये हुए रुपये लौटा दें। पत्र पढ़कर उक्त फर्मके मालिक बहुत दुखी हुए। उसी रात्रिको वे जयपुरके लिये चल निकले। व्यापारमें जीवनभर कभी धोखा न करनेपर भी यह लाञ्छन लग गया; इसके लिये वे ईश्वरसे माफी माँगने लगे।

स्टेशनसे वे सीधे ही महलमें पहुँचकर महाराजासे मिले। वहाँ प्रतिद्वन्द्वी फर्मके मालिकको उपस्थित देखकर उन्होंने परिस्थितिका सारा रहस्य समझ लिया। उनकी उपस्थितिमें ही उन्होंने महाराजाको एडवांसका चेक वापस देते हुए कहा—'सरकार! आपने आर्डर रद्द कर दिया, इसका हमें कोई खास विचार नहीं है, परंतु यह तो हमारी इज्जतका सवाल है। प्रत्येक फर्नीचरमें हमने शर्तके मुताबिक सागवानकी लकड़ीको ही काममें लिया है। इसकी तसल्लीके लिये मैं मशीन साथ लाया हूँ, आप अपने शहरके किसी अच्छे जानकारको बुलाकर जाँच करा लें। वे जाँच करके आपको निश्चित बात बता सकेंगे।'

इसी बीच प्रतिद्वन्द्वी फर्मके मालिक धीरेसे खिसक गये। महाराजाने शहरके पारखीको बुलाकर जाँच करवायी, तब निश्चय हो गया कि लकड़ी ठीक सागवानकी ही लगी है और काम भी बहुत अच्छा किया गया है।

महाराजाने आर्डर रद्द करनेका आदेश वापस ले लिया और उस फर्मके मालिकका आभार मानते हुए काम चालू रखनेको कहा। इसीके साथ महाराजाने दूसरी फर्मका फर्नीचर कैसा है, यह जाननेके लिये उनसे पूछा। उन्होंने कहा—'सरकार! हम अपना माल कैसा है, केवल यही बता सकते हैं। दूसरेकी चीजके विषयमें सम्मति देकर उसे नीचा या हलका बतलाना हमारे सिद्धान्तमें नहीं है।' दोनोंका काम पूरा हुआ और रकम चुका दी गयी। इनमें इस फर्मका काम सहज ही सबको बहुत सुन्दर लगता था।

बहुत दिनों बाद महाराजाके एक मित्र धनी मारवाड़ी सेठ महाराजासे मिलने आये और महलके सुन्दर फर्नीचरको देखकर अपने बंगलेके लिये वैसा ही फर्नीचर बनानेके लिये उन्होंने फर्नीचरवाले फर्मका नाम-पता लेकर उसको पत्र लिखा। महाराजने, जिसकी शिकायत की गयी थी, पर जिसका काम सच्चा और बढ़िया हुआ था, उसी फर्मका नाम-पता बतलाया था। मारवाड़ी सेठने उनको लिखा कि 'वे उक्त फर्मको एक लाखका काम देंगे, वे तुरंत ही बंगला देखने जयपुर आ जायँ।' चौथे दिन उस फर्मका उत्तर मिला—लिखा था,—'आपने महाराजा साहेबके कथनानुसार हमलोगोंको आर्डर देनेके लिये बुलाया, इसके लिये हम आभारी हैं। पर इस समय हमारे हाथमें बहुत अधिक काम होनेके कारण हम आर्डर स्वीकार नहीं कर सकेंगे, इसके लिये क्षमा करें। हम आपसे सिफारिश करते हैं कि आप अपना काम नीचे लिखी फर्मको दे दें, वह बहुत अच्छा फर्नीचर बहुत सावधानीसे बना देगी।' यों लिखकर नीचे उसी प्रतिद्वन्द्वी (महाराजाको झूठी शिकायत करनेवाले) फर्मका नाम-पता लिख दिया।

मारवाड़ी सेठने उस दूसरी फर्मको लिखा कि 'बंबईकी अमुक फर्मने बढ़िया फर्नीचर बनानेके लिये आपका नाम बतलाया है। अतः आप आकर बंगला देख लें और आर्डर ले जायँ।' जिस फर्मकी स्वयं शिकायत की थी, उसीने अच्छा काम करनेके लिये हमारा नाम बतलाया है, यह जानकर उस फर्मके मालिक बहुत ही शर्मिंदा हो गये और जयपुरसे अच्छी-सी रकमका आर्डर लेकर जब वापस बंबई लौटे तो सीधे उस फर्मकी दूकानपर जाकर उन्होंने झूठी शिकायत करनेके लिये गद्‌गद कण्ठसे उनसे माफी माँगी और भविष्यमें कभी ऐसा न करनेका वचन दिया।

आज भी वे दोनों फर्में प्रेमसे हिल-मिलकर काम करती हुई बंबईमें नामके साथ दाम भी कमा रही हैं।

(अखंड आनन्द) —शान्तिलाल बोले

'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बननेके नियम

(१) एक साथ एक सौ रुपये देनेवाले सज्जन 'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बनाये जाते हैं। जो लोग चालू वर्षका वार्षिक मूल्य रु० ७.५० भेज चुके होते हैं, वे ९२.५० और भेजकर आजीवन ग्राहक बन सकते हैं।

(२) जो सज्जन प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहें, उन्हें १२५.०० (एक सौ पचीस रुपये) भेजने चाहिये।

(३) भारतवर्षके बाहर (विदेश) के महानुभावोंके लिये आजीवन ग्राहक-मूल्य १२५.०० या १० पौंड है। सजिल्दका १५०.०० या १२ पौंड है।

(४) आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको प्रतिवर्ष 'कल्याण' मिलता रहेगा। उनके पीछे उनके उत्तराधिकारियोंको नहीं मिलेगा और किसी कारणवश 'कल्याण' बंद हो जानेपर भी नहीं मिलेगा। दोनों ही हालतमें रुपये 'गीताप्रेस'के स्थायी कोषमें सम्मिलित हो जायँगे और प्रकारान्तरसे यह उनके द्वारा गीताप्रेसके सत्साहित्य-प्रचारकार्यमें सहायता हो जायगी।

(५) मन्दिर, आश्रम, पुस्तकालय, मिल, कारखाना, उत्पादक या व्यापारी-संस्था, क्लब या अन्यान्य संस्था तथा फर्मको भी आजीवन ग्राहक बनाया जा सकता है।

सन् १९६३ में प्रकाशित नयी पुस्तकें

१—**उत्तराखण्डकी यात्रा**—(चौंतीस चित्रोंसहित) ले०—सेठ श्रीगोविन्ददासजी एम० पी०, श्रीमती रत्नकुमारी देवी तथा श्रीगोविन्दप्रसादजी श्रीवास्तव, पृष्ठ-संख्या ३१०, मूल्य २.००।

२—**कर्मयोगका तत्त्व**—लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ-संख्या ४२०, चित्र दो तिरंगे, तीन सादे, मूल्य १.१२।

३—**श्रीमद्भगवद्गीता**—(सानुवाद श्रीधरस्वामिकृत व्याख्यासहित) डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ५२२, सचित्र, मूल्य २.००, सजिल्द २.५०।

४—**राम-कथा-मन्दाकिनी**—(स्वरकार श्रीमती गोदावरी बाई साठे) पृष्ठ-संख्या २४२, बढ़िया कागज, आकार डिमाई आठपेजी, मूल्य २.००। यह गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामचरितमानस तथा कवितावलीके चुने हुए पदोंपर रचित शास्त्रीय संगीतकी स-स्वर पुस्तक है।

५—**भगवद्भक्ति**—मूल्य दो नये पैसे, ब्र० परमहंस स्वामीजी श्रीमंगलनाथजीके कल्याणमें प्रकाशित दो लेखोंकी एक छोटी-सी पुस्तिका।

बड़ी पुस्तकोंके पुनर्मुद्रण

१. **रामचरितमानस मोटा टाइप**—बृहदाकार संस्करण, २२×२९ चारपेजी, भाषाटीकासहित, पृष्ठ ९८४, सजिल्द मूल्य १५.००

२. **रामचरितमानस**—सटीक ७.५० वालीका मोटे टिकाऊ कागजका संस्करण मूल्य ... ११.००

३. **छान्दोग्योपनिषद्**—सानुवाद शांकरभाष्यसहित, ९ चित्र, पृष्ठ ९६८, सजिल्द मूल्य ३.७५।

४. **श्रीमद्भगवद्गीता**—तत्त्वविवेचनी टीकासहित, पृष्ठ ६८४, रंगीन चित्र ४, साधारण संस्करण, मूल्य ४.००, (बढ़िया मोटे टिकाऊ कागजपर, मूल्य ६.००।)

सभी पुस्तकोंका डाकखर्च अलग।

यहाँसे मँगवानेके पहले अपने शहरके पुस्तक-विक्रेतासे प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० एल्० १७५

मानवकी मानवता

मानवका है चरम परम शुचि एक लक्ष्य केवल भगवान।
लगे साधनामें जो इसकी, वही सत्य-मानव मतिमान॥
होता मंगलमय मानवताका शुभ तभी यथार्थ प्रकाश।
दैवी मानव-गुण-समूहका होता तभी विशुद्ध विकास॥
मानव ही क्यों, सकल चराचर पाते उनसे सुख-विश्राम।
अखिल विश्वकी सहज सुसेवा शुचि उनसे होती अविराम॥
होते पूजन-रूप नित्य उनके सारे आचार-विचार।
नित स्वकर्मसे करते वे, केवल प्रभु-सेवाका व्यापार॥
होते सर्वभूतहित, इन्द्रियविजयी, प्राप्त-ज्ञान-विज्ञान।
छूते नहीं उन्हें फिर मिथ्या-माया-ममता-मद-अभिमान॥
हर्षामर्ष-शोच-आकांक्षा-रहित सहज समता सम्पन्न।
सर्वहितमयी धारा उनसे नित होती रहती उत्पन्न॥
यों प्रभुके शुचि सेवनसे वे करते परम 'अभ्युदय' प्राप्त।
प्रभु-पद-प्राप्ति-रूप 'निश्रेयस'को फिर वे पा जाते आप्त॥

मानवकी पशुता-प्रेतता-पिशाचता

लक्ष्य भूल मानव-जीवनका बनते जो भोगोंके दास।
सहज मोहवश बँध जाते वे ममता-राग-द्वेषके पाश॥
'काम-क्रोध-लोभ'वश करते वे नित अवाञ्छनीय दुष्कर्म।
'अर्थ' और 'अधिकार' मात्र बस, बन जाते उनके प्रिय धर्म॥
भूल 'त्याग' 'कर्त्तव्य'-ज्ञानको तजकर 'सत्य-अहिंसा-प्रेम'।
मूढ़ चाहते तमोगुणी आसुर-साधनसे 'योगक्षेम'॥
मोह-मान-मद-कपट-कुटिलता पूर्ण दुष्कृतोंसे वे भ्रान्त।
ज्यों-ज्यों सुख-साफल्य चाहते, त्यों-त्यों होते असफल, क्लान्त॥
दुखी बनाकर सब जीवोंको, स्वयं चाहते सुख-संभार।
चिन्ता-भय-विषाद-व्याकुलता-दुख पाते वे बारंबार॥
खोकर दुर्लभ मानवता, वे बन जाते पशु-प्रेत-पिशाच।
पशुओं, प्रेत-पिशाचोंकी ज्यों लड़ते, करते नंगा नाच॥
इसे मानते जागृति, उन्नति, प्रगति, सभ्यता उच्च विकास!
मानव-जन्म नष्ट कर, करते मरकर भीषण नरक-निवास!!